## लेखक की अन्य कृतियां

**अंग्रेजी**

War Without Violence
My India, My America
Warning to the West
The Mahatma and the World
Two Worlds, Alas

**गुजराती**

वडलो
इन्सान मिटा दूंगा
पीणाँ पलाश
पद्मिनी
मोरनाँ इंडा
कोडियाँ
पीयो गोरो !

# वरसाद्

[ एकाङ्की गीतसंवादी नाटक ]

कृष्णलाल श्रीधराणी

अनुवादक
काशीनाथ त्रिवेदी

राजकमल प्रकाशन दिल्ली

द्वितीय संस्करण

राजकमल पब्लिकेशन्स लिमिटेड दिल्ली द्वारा प्रकाशित
गोपीनाथ सेठ द्वारा नवीन प्रेस दिल्ली से मुद्रित

मूल्य डेढ़ रुपया

# अपनी बात

चार-चार बरस की मौन साधना और बन्दी-वास के बाद आज गुजराती 'वडलो' 'बरगद' का जामा पहनकर हिन्दी-संसार की सेवा में उपस्थित हो रहा है, इसका मुझे हर्ष है। मैं कवि नहीं हूँ, 'बरगद' की सुन्दर पद्यावली हिन्दी के एक लब्धप्रसिद्ध तरुण सुकवि की कृपा का प्रोज्ज्वल प्रसाद है; किन्तु खेद यही है कि वे इन पद्यों के साथ अपना नाम नहीं देना चाहते। पर मुझे तो विश्वास है कि उनकी कृति ही उनके नाम को प्रकट कर देगी। उन्हें मैं क्या धन्य-वाद दूँ और कैसे आभार मानूँ ? मैं तो कहता हूँ, 'बरगद' 'बरगद' ही न हो पाता, अगर उनकी यह कृपा अमृत की तरह उसे सजीवन न करती !

इन पंक्तियों में 'बरगद' के मूल लेखक भाई कृष्णलाल श्री-धराणी का परिचय मैं क्या दूँ ? वे गुजरात के एक होनहार कवि और उदीयमान साहित्यिक हैं। भावनगर के दक्षिणामूर्ति भवन में, अहमदाबाद के गुजरात विद्यापीठ में और कवीन्द्र श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर के शान्तिनिकेतन में, बचपन से युवावस्था तक की उनकी शिक्षा हुई है। फिर वे अमेरिका में समाज-शास्त्र का विशेष अध्ययन करके इस विषय के पी० एच० डी० भी हो चुके हैं। गुजरात को उनसे बहुत आशा है।

उनके 'वडलो' में जो रस है, जो मिठास है, सचराचर प्राणि-जगत् के हृदय की कोमलतम भावनाओं का जो सरस, स्निग्ध चित्रण है, उसी पर मेरी ममता है; और इसी ममता ने मुझसे हिन्दी में यह दुस्साहस करवाया है। यदि इससे हिन्दी संसार का थोड़ा भी मनोरंजन हो सका, थोड़ी भी नई प्रेरणा और नई दिशा मिल सकी, तो मैं अपने इस यत्किंचित् प्रयत्न को सफल समझूँगा।

—काशीनाथ त्रिवेदी

# लेखक का परिचय

कृष्णलाल श्रीधराणी एक कुशल संभाषण-कर्ता तथा योग्य एवं प्रभावशाली वक्ता होने के साथ-साथ एक ऐसे स्वतन्त्र पत्रकार हैं जिनकी रचनाएं ब्रिटेन, अमरीका और हिन्दुस्तान के प्रथम श्रेणी के पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती हैं; परन्तु साहित्य-जगत् में उनकी ख्याति प्रधानतः उनकी पुस्तकों के कारण है।

प्रस्तुत रचना 'वडलो' अथवा 'बरगद' उस समय की है जब सन् १९३० में महात्मा गान्धी की डांडी-यात्रा में भाग लेने के 'अपराध' में ६० अन्य लोगों के साथ डाक्टर श्रीधराणी को नासिक जेल में डाल दिया गया था। गुजराती में यह उनकी प्रथम रचना थी। बाद में कई और रचनाएं निकलीं।

सन् १९३४ में डाक्टर श्रीधराणी अमरीका गये और १२ वर्ष तक वहाँ रहे। उनके जीवन का यह लम्बा प्रवास अक्टूबर १९४६ में समाप्त हुआ जब वे लौटकर घर आये। श्रीधराणी की प्रथम अंग्रेजी कृति 'हिंसा-हीन युद्ध' ( वॉर विदाउट वॉयलेन्स ) को सभी लोगों ने ऐसा प्रथम सफल प्रयास माना जिसके द्वारा गान्धीजी और उनके सत्याग्रह-दर्शन को एक 'विशुद्ध बौद्धिक ढंग' से शिक्षित अमरीकन जनता के सम्मुख रखा गया। उनकी दूसरी पुस्तक 'मेरा भारत, मेरा अमरीका' ( माई इण्डिया, माई अमेरिका ) एक विभिन्न और साहित्यिक शैली में लिखी हुई रचना है। इस पुस्तक ने सब ओर से बहुत प्रशंसा पाई तथा स्पैनिश, स्वीडिश और फ्रांसीसी

भाषाओं में इसके अनुवाद भी हुए।

भारतीय स्वतन्त्रता के पक्के समर्थक और सिपाही के रूप में श्रीधराणी की प्रतिभा का पूर्ण विकास उनकी तीसरी पुस्तक 'पश्चिम को चेतावनी' (वार्निङ्ग टु दि वेस्ट) में होता है और वह भी एक ऐसे समय जब सारा अमरीका भारत-विरोधी प्रचारात्मक साहित्य से भर रहा था। यह एक ऐसे हिंदुस्तानी का प्रयास था जो उस छोटे-से दल से सम्बन्ध रखता था जिसने वर्षों तक सुदूर अन्ध महासागर के पार अपने अनवरत प्रयत्नों द्वारा भारत का सही प्रतिनिधित्व किया है तथा देश का नाम उज्वल बनाये रखा है।

डाक्टर कृष्णलाल श्रीधराणी का जन्म १६ सितम्बर, १६११ को हुआ था। उनकी आरम्भिक शिक्षा भावनगर (सौराष्ट्र) में हुई। बाद को उन्होंने गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद में अध्ययन किया। १६३० की ऐतिहासिक डांडी-यात्रा में श्रीधराणी महात्मा गांधी के साथ थे। आन्दोलन में भाग लेने के कारण उन्हें जेल जाना पड़ा। अमरीका जाने के पहले श्रीधराणी ने कुछ समय शांतिनिकेतन में भी बिताया। एम० ए० की डिग्री आपने न्यूयार्क विश्वविद्यालय तथा एम० एस० (जर्नलिज्म) और पी० एच० डी० की डिग्री कोलम्बिया विश्वविद्यालय से ली। दो वर्ष तक आप कोलम्बिया विद्यालय के समाज-शास्त्र विभाग में अध्यापक भी रहे। कई समाचार-पत्रों के वैदेशिक संवाददाता की हैसियत से श्रीधराणी तीन महाद्वीपों में हुए अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों का निरीक्षण कर चुके हैं।

# 'बरगद' से मैंने क्या लिया ?

'बरगद' को मैंने तभी पढ़ा था, जब पहली बार वह गुजराती में प्रकाशित हुआ था और वह मुझे पसन्द आया था। मैं चाहता भी था कि इसका कोई हिन्दी अनुवाद प्रकाशित हो तो अच्छा। यह एक रसमय, और भावमय दुःखान्त नाटक है। इसके पात्र मानव-कोटि के नहीं; उनकी रचना में, कुछ अपवादों को छोड़कर, लेखक ने वन-श्री की सम्पत्ति से, उसमें विहार करने वाले पत्तीगण से और प्राकृतिक विभूतियों से सहायता ली है। इसका नायक 'बरगद' स्वयं एक वृत्तराज है। वट-वृत्त को देखकर यों भी किसी महापुरुष की ही कल्पना होती है। उसीने शायद इसके युवक लेखक को इस नाटक का मध्यबिन्दु बनाने की प्रेरणा दी हो। 'बरगद' का दिन-भर का जीवन परोपकारी और सेवामय है। जो भी थका-माँदा, दुःखी जीव आश्रय की खोज में उसके निकट आता है, उसका वह बाहु फैलाकर स्वागत करता है और उसे आश्रय देता है। यह उसके जीवन का धर्म हो गया है। इस गुरुजनोचित विशाल-हृदयता और मनोमहत्व ने उसे मानो सारे समाज का बड़ा-बूढ़ा ही बना दिया है। किन्तु इसका अभिमान तो ठीक, स्मरण तक उसे नहीं रहता। स्कूल के विद्यार्थी उसकी जटा नोचते हैं, परन्तु उसे ऐसा लगता है, जैसे कोई नन्हा बालक पिता की गोद में बैठा उसकी मूंछें उखाड़ने की कोशिश

भाषाओं में इसके अनुवाद भी हुए।

भारतीय स्वतन्त्रता के पक्के समर्थक और सिपाही के रूप में श्रीधराणी की प्रतिभा का पूर्ण विकास उनकी तीसरी पुस्तक 'पश्चिम को चेतावनी' (वार्निङ्ग टु दि वेस्ट) में होता है और वह भी एक ऐसे समय जब सारा अमरीका भारत-विरोधी प्रचारात्मक साहित्य से भर रहा था। यह एक ऐसे हिंदुस्तानी का प्रयास था जो उस छोटे-से दल से सम्बन्ध रखता था जिसने वर्षों तक सुदूर अन्ध महासागर के पार अपने अनवरत प्रयत्नों द्वारा भारत का सही प्रतिनिधित्व किया है तथा देश का नाम उज्वल बनाये रखा है।

डाक्टर कृष्णलाल श्रीधराणी का जन्म १६ सितम्बर, १६११ को हुआ था। उनकी आरम्भिक शिक्षा भावनगर (सौराष्ट्र) में हुई। बाद को उन्होंने गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद में अध्ययन किया। १६३० की ऐतिहासिक डांडी-यात्रा में श्रीधराणी महात्मा गांधी के साथ थे। आन्दोलन में भाग लेने के कारण उन्हें जेल जाना पड़ा। अमरीका जाने के पहले श्रीधराणी ने कुछ समय शांतिनिकेतन में भी बिताया। एम० ए० की डिग्री आपने न्यूयार्क विश्वविद्यालय तथा एम० एस० ( जर्नलिज्म ) और पी० एच० डी० की डिग्री कोलम्बिया विश्वविद्यालय से ली। दो वर्ष तक आप कोलम्बिया विद्यालय के समाज-शास्त्र विभाग में अध्यापक भी रहे। कई समाचार-पत्रों के वैदेशिक संवाददाता की हैसियत से श्रीधराणी तीन महाद्वीपों में हुए अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों का निरीक्षण कर चुके हैं।

# 'बरगद' से मैंने क्या लिया ?

'बरगद' को मैंने तभी पढ़ा था, जब पहली बार वह गुजराती में प्रकाशित हुआ था और वह मुझे पसन्द आया था। मैं चाहता भी था कि इसका कोई हिन्दी अनुवाद प्रकाशित हो तो अच्छा। यह एक रसमय, और भावमय दुःखान्त नाटक है। इसके पात्र मानव-कोटि के नहीं; उनकी रचना में, कुछ अपवादों को छोड़कर, लेखक ने वन-श्री की सम्पत्ति से, उसमें विहार करने वाले पक्षीगण से और प्राकृतिक विभूतियों से सहायता ली है। इसका नायक 'बरगद' स्वयं एक वृक्षराज है। वट-वृक्ष को देखकर यों भी किसी महापुरुष की ही कल्पना होती है। उसीने शायद इसके युवक लेखक को इस नाटक का मध्यबिन्दु बनाने की प्रेरणा दी हो। 'बरगद' का दिन-भर का जीवन परोपकारी और सेवामय है। जो भी थका-माँदा, दुःखी जीव आश्रय की खोज में उसके निकट आता है, उसका वह बाहु फैलाकर स्वागत करता है और उसे आश्रय देता है। यह उसके जीवन का धर्म हो गया है। इस गुरुजनोचित विशाल-हृदयता और मनोमहत्व ने उसे मानो सारे समाज का बड़ा-बूढ़ा ही बना दिया है। किन्तु इसका अभिमान तो ठीक, स्मरण तक उसे नहीं रहता। स्कूल के विद्यार्थी उसकी जटा नोचते हैं, परन्तु उसे ऐसा लगता है, जैसे कोई नन्हा बालक पिता की गोद में बैठा उसकी मूंछें उखाड़ने की कोशिश

करता हो। धूप में थके ग्वाला-ग्वालिन उसका प्रसन्न आश्रय पाते हैं। भिण्डा उसके गौरव की ईर्ष्या करता है और अपने तुच्छ अभिमान में उसे अपने विकास का बाधक समझता है; और कभी-कभी उसे तिरस्कारपूर्वक फटकार भी देता है। परन्तु जब झंझावात गरजता हुआ और प्रकृति को डाँवाडोल करता हुआ आता है और बड़ को अपने काल के निकट आ जाने की आशंका होती है, तब भी उलटे भिण्डा को वह गुरुजनोचित आश्वासन ही देता है—'भिण्डा भाई, तुम घबराना मत, भला! मेरी जड़ें बहुत मजबूत हैं। जब तक मैं मौजूद हूँ, अपनी घटा का ढाल बनाकर आँधी के सब झोंकों से मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा। तुम निश्चिन्त रहो, मेरी विशाल घटा की छाया में।'

आश्रयदान—सबको समान भाव से, शत्रु-मित्र का भेद भुला कर आश्रयदान—तो 'बरगद' का नित्य जीवन ही है। परन्तु उसकी महत्ता की सच्ची परीक्षा का अवसर तब आता है, जब जोर की आँधी में खुद उसकी जड़ें उखड़ रही हैं। मगर उसे चिन्ता होती है, अपने आश्रित पखेरुओं की। वह उन्हें कहता है—'मेरे प्यारे पंक्षियो! तुम उड़ जाओ। मेरा काल आ गया है!' पंछी जवाब देते हैं—'बड़दादा यह तुम हमें क्या कहते हो? यही सीखा है हमने तुमसे कि, जिसके आसरे आज दिन तक जिये, संकट के समय उसको छोड़कर चले जायं? दादा, तुम हमें इतना हीन समझते हो क्या? हम कहते हैं, जो दशा तुम्हारी होगी, सो हमारी भी हो ले।' इस समय हृदय से एक आर्तध्वनि निकलती है—क्या हम मनुष्य इन पंछियों की बराबरी कर सकते हैं?

यह तो हुआ कवि का नायक। इसके आस-पास जो

कोमल सृष्टि लेखक ने खड़ी की है, और जो रसमय वातावरण बनाया है, उसके प्रभाव के विविध रङ्ग आदि से अन्त तक, पाठक के मन को 'बरगद' के आसपास से हटने ही नहीं देते।

अन्त में प्रकृति का नियम आता है और काल झंझावात का रूप लेकर उस महाकाय, योगिराज 'बरगद' की गहरी जड़ों को भी उखाड़कर धड़ाम से गिरा देता है। झंझावात तरुगणों से कहता है, 'तुम मुझे प्रणाम करते हो या नहीं ? मेरे सामने झुकते हो या नहीं ? बोलो, झुकते हो या मैं झुका दूं ?' बड़ सगर्व उत्तर देता है—'अपनी राह चले जाओ, झंझावत ! तरुगण प्रेम-समीर के सिवा किसी और को सिर नहीं झुकाते।' 'बरगद' की इस तेजस्विता और इस स्वाभिमान पर कौन उसका चरण छूना न चाहेगा ? उसकी यही दृढ़ता उसके विनाश का कारण बनती है। किन्तु क्या सचमुच बड़दादा का विनाश हुआ है ? झरनी ठीक कहती है—'मुर्गा भाई ! बड़दादा की देह गिर चुकी है, किन्तु आत्मा तो अब भी अमर है। अरे, जिस झंझावात ने बड़दादा के इस महान् जीवन का अन्त किया है, उसी झंझावात ने उनके असंख्य फलों को कोसों फैला दिया है। आये दिन उन फलों के बीज से बड़दादा जैसे असंख्य नये बड़ पैदा हो जायंगे।'—यही सनातन नियम इस 'बरगद' का अन्तिम संदेश है। 'बरगद' को देकर लेखक ने पाठकों को एक महापुरुष दिया है, और उसके अन्त की करुणा में से दिया है अमरता का जीवन संदेश !

—हरिभाऊ उपाध्याय

# काव्य-रूप

कलाकृति की प्रस्तावना लिखने की प्रथा कलाकार बर्नार्ड शॉ ने भले ही शुरू की हो, यह तो कहना ही होगा कि इससे कला के गौरव की रक्षा नहीं होती। कलाकृति का आकर्षण स्वयम्भू होता है, स्वाभाविक होता है, स्वतःसिद्ध होता है। कस्तूरी की सुगन्ध को कोई सौगन्ध खाकर सिद्ध नहीं करता। तथापि यह प्रथा ऐसी सर्वव्यापक हो चुकी है कि आज विना प्रस्तावना के कोई भी कृति समाज के सम्मुख उपस्थित नहीं की जा सकती। प्राचीन नाटककार अपनी इष्ट प्रस्तावना सूत्रधार के मुँह से स्वयं ही कहला देते थे; और नाटक का अभिनय करते समय सूत्रधार स्पष्ट शब्दों में प्रेक्षकों को नाटक के रम्य स्थलों का परिचय करा देता था। समाज के सम्मुख खेले जाने वाले नाटकों का सूत्रधार प्रेक्षकों को सूचना दिया करता था कि यहाँ हँसिये, यहाँ रोइये, और यहाँ तालियाँ पीटिये। इसी प्रथा ने अब प्रवेशक या प्रस्तावना का रूप धारण किया है। इस धारणा के कारण ही, कि आजकल जनता में न पर्याप्त रसिकता रही है, न विवेचन-शक्ति, लोग इन उपायों से काम लेने लगे हैं।

प्रस्तावना की आवश्यकता का एक और भी कारण है। जब कवि किसी गूढ़ भाषा में लिखता है, सूक्ष्म रीति से ध्येयवाद को अपनी कविता में सूचित करता है, या उसके गर्भ में कोई रूपक रखता है, तो इन सबका स्पष्टीकरण करने के लिए प्रस्तावना की

अवश्य ही आवश्यकता पड़ती है। इस रूप में प्रस्तावना पाठकों को रसिकता की शिक्षा-सी देती है।

इस 'बरगद' का जन्म कारागृह में हुआ है। वहीं यह फूला और फला है। वहीं से यह बाहर आया और इसने अपनी जटायें फैलाईं। जेल के दिनों में न जाने कितने मित्रों को इसने आनन्दित किया। बाहर आने के बाद भी न जाने कितनों को यह आनन्द पहुँचाता रहेगा?

इसकी इस आनन्ददायिनी शक्ति का मूल किन बातों में है? मनुष्य के जीवन में बड़ी-से-बड़ी वस्तु समभाव है। पारस्परिक वार्तालाप में हमें जो आनन्द आता है, उसका कारण यह समभाव ही है। हम इसी विश्वास को लेकर बातचीत शुरू करते हैं कि जिस प्रकार के भाव हममें जन्में हैं, हमारी बात सुनकर सुनने वालों के दिल में भी वे ही भाव जन्मेंगे। इस अपेक्षा को तृप्त पाकर हमें एक नये ही प्रकार का आनन्द होता है। यह आनन्द न इन्द्रियजन्य है, न इन्द्रियगम्य। यह तो हृदय-जन्य, बुद्धिग्राह्य और स्व-संवेद्य होता है। इसी कारण इसका सुख भी आत्यंतिक होता है।

प्राचीन काल से, मनुष्य इस आनन्द को नाना प्रकार से प्राप्त करता आया है। काव्य-सृष्टि के आरम्भ की प्रायः सभी कृतियों में स्वभाव ही से मुग्धता आ जाती थी। किन्तु यथाकाल मुग्धता का स्थान प्रौढ़ता ने ले लिया। उसमें से शृङ्गार का जन्म हुआ। अलंकारों की चमक-दमक बढ़ी। इस वेश-भूषा के अन्दर नैसर्गिक सौंदर्य दब गया, और सर्वत्र कृत्रिमता फैल गई। आकुल सद्-अभिरुचि ने काव्यानन्द की रक्षा का पुनः प्रयत्न किया; और सादगी की उपासना आरम्भ की। यह सादगी एकाएक न आ सकी। संस्कारशील

कवियों को यह निश्चय न था कि काव्य का रस किसमें है, आनन्द का स्थान क्या है; इसलिए उन्होंने डरते-डरते कविता का एक-एक अलंकार उतारना शुरू किया। अन्त में विश्वास हो गया कि काव्य का आनन्द केवल सहृदयता, औचित्य और प्रमाण-बद्धता ही में है। अनुभव के बाद जो काव्य रचे गए उनमें कमाल की सादगी पाई जाती है; और फिर भी वे आह्लाद-जनक होते हैं। यही नहीं, वे जीवन की दृष्टि तक बदल डालते हैं।

यह ध्यान रहे कि यह नई सादगी पुरानी मुग्धता कभी न होगी। मुग्धता तो एक वार गई, सो गई! मुग्धता नानाविध और अटपटी भी होती है। इसमें आत्म-विश्वास विकसित नहीं हो पाता। मुग्धता में स्वाभाविक जोश अथवा आवेग अधिक रहता है। यह संघर्ष की अपेक्षा नहीं रखती, लेकिन संघर्ष प्राप्त होने पर उसके लिए स्वभावतः तैयार हो जाती है। संस्कार-जन्य सादगी इससे बिलकुल भिन्न होती है। चारों धाम की यात्रा करके घर लौटे हुए चतुर पुरुष की तरह इस सादगी में अनुभव का गौरव पाया जाता है। सारासार के विवेक द्वारा अनावश्यक वस्तु को दूर रखने की शिष्टता इसमें होती है। और इस बात का पूरा विश्वास रहता है कि जो कुछ कहा है, वह अवश्य ही प्रभावशाली है। इतने लाभ के लिए इसे ओज का थोड़ा त्याग करना पड़ता है; पर वह अनिवार्य है। जो सरोवर वनश्री का शृङ्गार-मात्र है, वह भला वर्षा-कालीन बाढ़ का ओज कैसे दिखा सकता है?

मुग्धता के स्थान पर स्वाभाविकता आ जाने के वाद भी कवियों को बहुधा यह भय तो बना ही रहता है कि यदि कलाकृति में अमुक कथावस्तु और अमुक गूढ़ आध्यात्मिक वोध न हुआ,

तो वह आकर्षक नहीं बन सकेगी। यदि कथावस्तु का बहिष्कार ही करना है, तो कविगण किसी लोक-विश्रुत ऐतिहासिक या पौराणिक घटना के संकेत का आधार लेकर उसकी नींव पर अपना चित्र तैयार करते हैं, जिसमें कथावस्तु के विस्तार करने की आवश्यकता न रहे, और फिर भी उसका वातावरण मिल जाय। मध्यकालीन कवियों ने सदा इसी पथ का अनुगमन किया है। लेकिन सम्पूर्ण स्वाभाविकता को तो यह बन्धन भी अखरता है।

अच्छा, तो यह बन्धन भी छोड़ा! किन्तु काव्य में जीवन-गौरव लाने के लिए गूढ़ आध्यात्मिक बोध की आवश्यकता तो है न? कहना पड़ता है, 'है', और 'नहीं' भी! जीवन को लेकर जो कुछ भी चित्रित किया जाता है, उसमें स्वभाव ही से अध्यात्म-बोध विद्यमान रहता है। लेकिन उसे प्रयत्नपूर्वक प्रकट करने की कोई आवश्यकता नहीं होती। जिस प्रकार आरोग्य के साथ लावण्य स्वभावतः आ ही जाता है, उसी प्रकार जीवन के यथार्थ दर्शन के साथ अध्यात्म-दर्शन भी होता ही है। उसे स्पष्ट रूप में प्रकट करने की आवश्यकता नहीं रहती। बहुधा प्रकट करने के प्रयत्न से उसके एकांगी और संकुचित बन जाने का भय रहता है। आखिर अध्यात्म जीवन का रहस्य ही न है? श्रद्धा या अनुभव द्वारा ही वह जाना जा सकता है। उसकी प्रतीति के बिना उसका स्पष्ट या अस्पष्ट सूचन कितना ही रसपूर्ण क्यों न हो, उसमें सचाई बिलकुल नहीं होती। अध्यात्म का भाव भारतवर्ष की हड्डी-हड्डी में भिदा हुआ है। हमारी दृष्टि, हमारी समझ, और हमारी मनोवृत्ति पुराने उत्तराधिकार के कारण, अध्यात्म से ओत-प्रोत रहती आई है। इसलिए हमारी रचनाओं में अध्यात्म अना-

यास स्फुरित होता रहा है। लेकिन आज इस स्थिति में थोड़ा परिवर्तन हो गया है। आज काव्य की शोभा के लिए संध्या के प्रकाश की तरह अस्पष्ट अध्यात्म को स्थान-स्थान पर बिखेरने की प्रथा-सी चल पड़ी है। किसी 'महर्षि' का पुत्र, कोई 'कविसम्राट्' ऐसा करे, तो उससे संसार पण्डित बनेगा, भाषा अलंकृत होगी। लेकिन यह केवल एक प्रथा बन बैठे, तो इससे बड़ी भारी हानि होगी।

कवियों के लिए सर्वप्रथम संरक्षणीय वस्तु आत्मनिष्ठा है। अपना अनुभव, अपनी दृष्टि, अपनी श्रद्धा जैसी हो, वैसी ही वह प्रकट होनी चाहिए। यदि जीवन में अध्यात्म है, तो काव्य में वह अवश्य आवेगा। उचित अवसर न रहा, तो कदाचित् वह प्रकट भी न होगा। बीज को अंकुरित करने के लिए चने के क्षार का पुट चढ़ाकर जादू का कोई खेल दिखाया जा सकता है, कविता देवी का प्रादुर्भाव नहीं किया जा सकता।

पूछनेवाले जरूर पूछेंगे कि जब इस कृति में कथावस्तु भी नहीं है, और अध्यात्म-सूचन भी नहीं है, तो क्या है? क्या है, सो बताने की आवश्यकता ही क्या है? काव्य आस्वाद के लिए है। उससे यदि हमारी समस्त शुभ भावनाएं तृप्त होती हैं, तो समझिये कि काव्य कृतार्थ है। इस तृप्ति से क्या-क्या मिला, क्या-क्या प्राप्त हुआ, सो बाद में देखना चाहिए। काव्यमय वातावरण में विचरण करने का आनन्द क्या पर्याप्त आनन्द नहीं है? क्षण-भर इस निपट व्यावहारिक दुनिया को भूलकर यदि हम आदर्श व्यवहार, आदर्श कोमलता और आदर्श सात्विकता का अनुभव कर सकें, तो क्या यह बस नहीं है?

जब काव्य और उसकी शैली एक-रूप होती है, तो सौन्दर्य निष्पत्ति भी विशेष पाई जाती है। 'बरगद' की शैली भी एक धीरोदात्त वटवृक्ष की-सी होनी चाहिए। जब सार्वभौम कल्पना के आस-पास पत्तों, फलों और पंछियों की तरह अनेकानेक नन्हीं-नन्हीं स्थूल कल्पनाएं डोलती हों, चमकती हों, किलोलें करती हों तो काव्य सुनते-सुनते उस काव्य का एक वटवृक्ष ही बन जाता है।

इस 'बरगद' काव्य में आकाश और पृथ्वी के प्रायः सभी काव्यमय बालक उतर गए हैं। उच्च आकाश के ग्रह और नक्षत्र इसमें हैं। मध्य आकाश के समीर, झंझावात और मेघ इसमें हैं। पंछी और उनके घोंसले, बालक और उनकी क्रीड़ाएं, फूल और फल, सरोवर और स्रोत सभी इसमें हैं। किन्तु ये सब एक साथ नहीं आते। हिन्दू शहरों में जिस भाँति प्रत्येक जाति का मुहल्ला अलग, उसी भाँति यहां प्रत्येक पात्र का प्रवेश अलग। ये सब वस्तुएं एक दूसरे में ओत-प्रोत हो जानी चाहिए थीं, सो नहीं हुईं। फिर भी इन सब वस्तुओं में परस्पर प्रेम, एकता और सहयोग है, इससे ये खटकती-खलती नहीं। हाँ, यदि कुछ खलता-अखरता है, तो वे गुरु-शत्रु बालक। वेह में प्रिय तो हैं, पर कथा के वातावरण में भली-भाँति घुलते-मिलते नहीं, और पशुओं को तो कवि ने बिसार ही दिया है। दुपहर का समय है; एक विशाल वटवृक्ष है; गो-वृन्द उसकी घनी छाया में विश्राम कर रहा है; कुछ गायें आराम से जुगाली कर रही हैं; कौवे आकर उनके सींगों के बीच माथे पर बैठे हैं और अपनी चोंच से उनकी आँखें साफ़ करते हैं; काश, कवि के दृष्टि-पथ में यह काव्यमय चित्र प्रकट हुआ होता! तब शायद उससे ऐसी भूल कभी न होती।

यह एक प्रश्न ही है कि अमानुषी अथवा अतिमानुषी सृष्टि में स्वभाव-चित्रण आलेखित होना चाहिए या नहीं ? एक मार्ग तो है, कि प्रकृति में जैसी स्थिति दिखती है, उसका वैसा ही वर्णन किया जाय। इस वर्णन में प्रकृति का कोई स्वभाव नहीं बताया जाता। हू-ब-हू वर्णन ही से कवि संतुष्ट रहता है। इससे आगे बढ़कर जब कवि वर्णन के साथ मनोभावों की तुलना करता है, तब मन पर कुछ और ही प्रभाव पड़ता है। और जब प्राकृतिक वर्णन के आधार पर वह यह कल्पना करता है कि पशु, पक्षी, ग्रह, नक्षत्र आदि का अपना कोई स्वभाव होता है, उनकी अपनी भावनाएं होती हैं, और जब इस कल्पना के अनुसार ही वह उनका व्यवहार भी दिखाता है, तो वह एक कदम और आगे बढ़ जाता है। प्रकृति के प्रति तनिक भी सच्चा रहने का प्रयत्न किये बिना, मनस्वी रीति से मनमाना स्वभाव-चित्रण करना काव्य का एक भिन्न ही प्रकार है। मुग्ध काव्यों में यह अन्तिम प्रकार विशेष पाया जाता है। 'हितोपदेश', 'पंचतंत्र' अथवा 'इसॉपनीति' की कथाओं में हमें यह अन्तिम प्रकार ही मिलता है। वैदिक देवों के वर्णन घड़ी में प्राकृतिक वर्णन बन जाते हैं, तो घड़ी में राग-द्वेषादि भावों से प्रेरित चेतनाशील मनुष्यवत् देवों के वर्णन बन जाते हैं। 'बरगद' के पात्र प्राकृतिक घटना के स्वभाव को सूचित नहीं करते; किन्तु प्राकृतिक घटनाएं सहृदय मनुष्य पर जो प्रभाव डालती हैं, उस प्रभाव के वे प्रतिनिधि रूप हैं। यह पद्धति कितनी ही सुन्दर क्यों न हो, न तो यह मुग्ध कही जा सकती है, न स्वाभाविक। 'बरगद' के ग्रह और नक्षत्र स्वतन्त्र व्यक्ति नहीं बन पाये; वे आकाश-दर्शन की स्थिति में रह गए हैं। यदि इसे कोई कवि-प्रतिभा की अपरिपक्वता मानता है, तो

भूल करता है। यह तो स्पष्ट है कि कवि ने पौराणिक नक्षत्र-काव्यों का अनुशीलन न करके, केवल आकाश-दर्शन के आधुनिक वर्णनों का ही अनुशीलन किया है। अन्यथा आकाश-दर्शन का संकेत मात्र करने के बदले उसने यहां नक्षत्रों के स्वभाव का ही वर्णन भर-पूर किया होता।

इस नाटक में किस बोध का संकेत है? कौनसा आध्यात्मिक रूपक गूँथा गया है? मनुष्य सृष्टि के कौन-कौन पात्र मनुष्येतर रूप धारण करके इसमें अपना खेल खेल रहे हैं?

इसका उत्तर तो स्वयं कवि ही दे सकता है। किन्तु नाटक को देखते हुए तो यही कहना पड़ता है कि इसमें कोई रूपक नहीं है। और यही इसकी सविशेष सुन्दरता है।

आजकल की अभिरुचि सदा इस बात की अपेक्षा रखती है कि काव्य में किंचित्-किंचित् सूक्ष्म गूढ़वाद अथवा आध्यात्मिक सिद्धान्त की बुनावट होनी चाहिए। वह जितना सूक्ष्म और अस्पष्ट हो, धुँधली-रीति से व्यक्त हो, उतना ही वह अधिक सुन्दर है। काव्य में सन्ध्या के धुँधले प्रकाश की तरह, गूढ़ अध्यात्म का स्थान-स्थान पर संकेत हो, और फिर भी सब कुछ अगम्य अगोचर-सा हो, तो उस स्थिति में चित्र के अन्दर जो मधुर अवसाद रह जाता है, आधुनिक अभिरुचि उस पर वारी जाती है—मुग्ध है। लेकिन यह भूमिका स्थायी नहीं हो सकती। संस्कृति-जन्य सरलता इससे भी आगे बढ़कर केवल यथार्थता ही चाहती है। वातावरण का लालित्य, चित्र का समभाव और वृत्ति की तल्लीनता उसके लिए बस है। हमें यही देखना है कि इस नाटक में कवि इस प्रकार का वातावरण उत्पन्न कर सका है, या नहीं। इसमें

अध्यात्म का बीज हो सकता है, पर कवि ने उसमें अंकुर तक फूटने नहीं दिया है।

प्रपितामह-से धीरोदात्त और परोपकारी बरगद को उन्मूल करके झंझावात ने अथवा उसके स्वामी काल ने क्या पाया ? क्या सिद्ध किया ? केवल अपनी शक्ति का परिचय ? प्राकृतिक देव सुख-दुःख, लाभ-हानि, सुविधा-असुविधा, पाप-पुण्य आदि के विषय में नितान्त उदासीन रहते हैं; सदाचार या औचित्य का उन्हें विचार तक नहीं होता। उनकी दृष्टि में उनका क्षोभ और उनकी शान्ति एक ही समान होती है। दोनों स्थिति में उनका मद समान भाव से प्रकट होता है। वे तो केवल शक्ति के प्रतिनिधि हैं। पुराने अनुभवी कहा करते थे कि राजा के साथ मैत्री उचित नहीं। इसी तरह आज हम कह सकते हैं कि प्रकृति के साथ भी मैत्री उचित नहीं। कौन कह सकता है कि शान्त समुद्र पर मुग्ध होकर जहाज को खोल देने से समुद्र हमारी भक्ति और अनुरक्ति की कद्र करके कभी तूफानी बनेगा ही नहीं ? प्रकृति के देव दुष्ट भी नहीं होते और रुष्ट भी नहीं होते। वे अपने मद ही में मस्त रहते हैं। तृप्ति के भूखे मनुष्यों ने ही सुख-दुःख के शास्त्र का विस्तार किया है और विषयासक्त, एवं परिणाम-भीरु मनुष्य ने ही पाप-पुण्य का भेद सिरजा है। जिसके निकट विषय नहीं, पाप की ओर उसकी प्रवृत्ति ही नहीं होती। उसे पुण्य का लोभ भी नहीं रहता। प्राकृतिक देव गीतोक्त धर्म का पालन करते हैं। 'हत्वाऽपि स इमान् लोकान् न हन्ति, न निबध्यते।' यह जिनकी स्थिति है, उनके हाथों ( यदि उन्हें हाथ हों तो ) एकाध बरगद का उन्मूलन हुआ तो क्या, न हुआ तो क्या ? वे तो अलिप्त-के-अलिप्त ही रहेंगे; और हमारी

भक्ति के अधिकारी बनेंगे। उनके इस स्वच्छन्द पराक्रम के कारण औचित्य और सदाचार की पग-पग पर हत्या ही क्यों न होती हो, हमें उन पर गुस्सा नहीं आता, क्योंकि उनमें न विलासिता है, न अहंकार है, और न है आसक्ति।

अकेली शक्ति की शोभा स्वयं-सिद्ध होती है, और किसी प्रकार का पक्षपात या हेतु ( स्वार्थ ) न होने के कारण उसमें सहज पवित्रता आ जाती है। इसी कारण तो प्रकृति की ये शक्तियाँ देवत्व प्राप्त कर सकी हैं। मनुष्य का धर्म इनके लिए नहीं हो सकता।

मालूम होता है कि जिस युग में मनुष्येतर सृष्टि के काव्यों की रचना हुई थी, उस युग में नैतिक उपयुक्ततावाद का बहुत प्राबल्य रहा होगा। इसीसे उन काव्यों में स्वाभाविकता और सुन्दरता पर अधिक ज़ोर न देकर नीति-बोध को अग्रस्थान दिया गया है। और इस बोध की सुगमता के विचार से ही कथावस्तु को तोड़-मरोड़ कर उसे विशिष्ट रूप दिया जाता रहा है। किन्तु वह युग तो अब बीत चुका। 'यह कथा सुनो और इससे इतना उपदेश ग्रहण करो', इस तरह की बातें अब कोई नहीं कहता।

बीच में एक ऐसा काल भी आ चुका है कि जब नीति-बोध का मंथन करना लोगों ने छोड़ दिया था। जिस प्रकार दही में मक्खन दिखाई पड़ता है, पर वह अलग नहीं रहता, उस प्रकार कथा में उपदेश रहते हुए भी इस काल में वह अलग से सूचित नहीं किया जाता था। यह काल भी अब बीत गया। आगे स्वाभाविक वर्णन अथवा काव्यमय प्रसंगों का इस प्रकार वर्णन किया जाने लगा कि नीति-बोध का स्पष्ट तो दूर, अस्पष्ट सूचन तक करना

कवियों ने छोड़ दिया। इस युग में वातावरण की कोमलता के कारण या भावना की उत्कटता के कारण जो कुछ भी चरित्र-शीलता उत्पन्न हो सकती थी, उतने ही से लोग सन्तोष मान लेते थे और उसीमें रसिकता की चरम सीमा समझी जाती थी। अब तो यह अनुभव हो जाने से कि वस्तु के तद्वत् वर्णन से भी मनुष्य का हृदय पिघल सकता है, ऐसे वर्णन को सम्पूर्ण काव्य का नाम दिया जाने लगा है।

इस पद्धति में कवि को अपनी कृति पर सम्पूर्ण विश्वास होना चाहिए। यदि हमें यह विश्वास हो जाय कि सृष्टि चेतनामय है, अपने विविध भावों से वह हमारे साथ एकरस होती है, और बुद्धि के साधनों का उपयोग किये बिना भी हमें अपना मूक उपदेश देती रहती है, तो हम सृष्टि को उसका कार्य अपने-आप ही करने दें। उस दशा में सृष्टि पर मनुष्यों के भावों का आरोपण करने की आवश्यकता ही न रहे। और काव्य के नाम पर मिथ्या वस्तु उत्पन्न करने की वृत्ति भी न रहे। ऐसी स्थिति में काव्य काव्य न रहकर साक्षात्कार का रूप धारण कर लेता है। प्रत्येक कवि को, अस्पष्ट रीति से, अमुक एक धन्य क्षण में, इस वस्तु का साक्षात्कार होता है।

लोग जो यह कहते हैं कि बहुधा कवि की अपेक्षा काव्य श्रेष्ठ होता है, उसका यही रहस्य है। कठोर धर्मकारों ने कवि की कृति को अपौरुषेय कहकर काव्य को मुक्त किया है, और कवियों को अपने स्वाभाविक स्थान पर रह जाने की सूचना की है।

यदि कवि में उन्नत जीवन की उत्कट कामना है, तो वह अपने काव्य के साथ स्पर्धा करके अथवा अपनी कृति को ही गुरुस्थानीय

मान कर उन्नति कर सकता है। वह ईश्वर से प्रार्थना करेगा कि 'हे आदि कवे! कभी-कभी अपनी काव्य-सृष्टि में ले जाकर तुम मुझे क्षण-भर को अपना जो साक्षात्कार कराते रहते हो, उस साक्षात्कार के योग्य बनने के लिए मेरी यही एकमात्र अभिलाषा है कि मेरे मनःप्राण में निरन्तर वैसा ही परिवर्तन होता रहे। हे आदि कवि! मुझे यह कहने का अवसर दो कि यह काव्य ही मेरी साधना का मार्ग है, इसी ने मेरा हाथ पकड़कर मुझसे उत्तुंग जीवन-यात्रा करवाई है, अतः इस काव्य के पिता के नाते अब लज्जावश सिर झुकाने की स्थिति नहीं रह गई।'

—काका कालेलकर

# बरगद

समय ऐसे किसी वर्ष के उतरते भादों के कोई भी चौबीस घंटे जब प्रकृति और प्राणिमात्र वाचाल बने थे।

स्थान एक सुन्दर गाँव का सुहावना सिवान।

[ धरती पर हरी-हरी घास इस तरह बिछी है, मानो हरे मख़मल का ग़लीचा बिछा हो! बीच-बीच में गुलाबी, भूरे, नीले और पीले फूलों की गुंथाई की गई है। मध्य में एक विशाल बरगद खड़ा है। जटाएं उसकी बढ़-बढ़कर ज़मीन में पैठ गई हैं। पास ही एक झरना कल-कल बह रहा है। बगल के एक गड्हे में झरने का जल स्थिर पड़ा है, और उसमें कमलिनी और कुमुदिनी की कलियाँ सोई हैं। किनारे पर चम्पा का एक पेड़ है, और कुछ दूर पर सूर्यमुखी का एक पौधा। बरगद की घटा के नीचे, उसकी अवगणना-सा करता हुआ, भादों महीने की फटी हुई भिंडियों का एक पौधा खड़ा है। उसके बड़े-बड़े पत्ते बरगद की हंसी-सी करते हुए ऊपर को फैले हुए हैं। सारा दृश्य वनस्पति-श्री से छाया हुआ है।]

[धीरे-धीरे आसमान में उजेला होता है। तारे एक के बाद एक अस्त होते हैं। पूर्व में पौ फटती है, और ताल में कमलिनी खिलती है। ]

[ पूर्व की ओर से एक मुर्ग़ा गाता हुआ आता है। ]

मुर्ग़ा सूर्य देव का बन्दी जन हूं,
मैं प्रभात का हूं आह्वान

उषा-सारथी सहित दिवाकर
सप्त-अश्व-रथ पर चढ़ सत्वर,
आता है, मैं उस के पथ पर
संचितकर सब जीवन का स्वर,
बन प्रकाश का गायक
गाता हूं वागत का गान।

झूल रही है नीरव अवनी
निद्रा के पलने में सारी
गुँजा दिशाओं के कानों को
आया मैं जग-जागृतिकारी,
मैं प्रभात के प्रथम प्रहर का
गायक हूं गुणवान्।

निद्रा-मग्न अलस रतनारे
नयनों के पलकों को न्यारे
जागृति के रस का करवाने
आया हूं मैं पान।

[ बरगद के पास आकर रुक जाता है। ]

मुर्गा — बड़दादा! बड़दादा! अब तो जागो।

बड़ — वाह रे मुर्गा भैया! बड़े भुलक्कड़ हो, जो रोज़-रोज़ यों भूल जाते हो? भला गोदी में बालक सोये हों, और माँ को नींद आये? मेरी तो डाली-डाली पर पंछी पौढ़े हैं। सारी रात मैं उन पर झूमा करता हूं। माँ

बना हूं, तब से यह समझो कि पलक तक नहीं मूँदी है, भैया !

मुर्ग़ा — यह तो तुम्हीं कर सकते हो बड़दादा ! हमें पौ फटते ही नेकी पुकारनी पड़ती है, किन्तु रात तो हम ख़र्राटे की नींद लेते हैं। सच है कि सबसे पहले उठने वाले हैं, पर तुम तो सदा के जागने वाले हो ! ( तनिक उतावली का अभिनय करते हुए ) हाँ, तो क्षमा करना, बड़दादा ! इस समय तो मैं जाऊँगा। भगवान् सूर्यनारायण के रथ के आगमन से पहले तो मुझे सारी पृथ्वी पर प्रभात-गीत गाते हुए घूम आना है। बड़दादा, प्रभातवन्दन !

बड़ — ( आशीष देने के लिए डालियाँ नमाते हुए ) कल्याण मुर्ग़ा भैया, फिर आना।

मुर्ग़ा — ( गाता हुआ चला जाता है )—

जागो जागो, हुआ सबेरा,
शूरो ! छोड़ो अलस बसेरा।
संजीवन है मंत्र हमारा
सब वेदों का सार प्रमाण।
सूर्य देव का बन्दी जन हूं,
मैं प्रभात का हूं आह्वान !

[ मुर्ग़ा जाता है। कुछ देर के लिए शांति छा जाती है। बड़ की घटा में कोयल जाग उठती है। ]

कोयल — ( आश्चर्य से ) अरे, कितना उजेला हो गया ! बड़दादा, बड़दादा ! अब तक हमें जगाया क्यों नहीं ?

बड़ (वात्सल्य से) बेटी, अपने सोते बालकों को जगाने का जी मैं कैसे करूँ ?

कोयल तुम तो 'दादा' ही रहे, बड़दादा ! अब देर हो जायगी, और बच्चों के लिए दाने जो न मिलेंगे ?

बड़ (तनिक मुसकराते हुए) वाह री कोयलबाई ! अपने दादा को भी बनाना सीख गई ? तुम्हें, और बच्चों की क्या चिन्ता ? बच्चे तो तुम्हारे कौवी के घोंसले में पलते हैं, बेटी !

कोयल (बनावटी रोष के साथ) मूँछें बढ़-बढ़कर ज़मीन में पैठ गईं, तब भी तुम्हारा मसखरा स्वभाव न गया दादा। अच्छा, बातों में और देर होगी, चलूँ, सबको जगाऊँ ! (ज़ोर से कूकती है) कूहू....कूहू.... कू....हू....! पंछियो ! जागो, जागो !! प्रभात की उपासना का समय हो गया। कूहू...कूहू....!

तोता (जागकर आलस से शरीर मरोड़ते हुए) ओह_हो ! भर चौमासे में तुम्हें भी ठीक सूझी कोयल-रानी ! अब भी कहीं आमों पर अमियाँ मिल सकती हैं क्या ?

कोयल हाँ-हाँ, कहीं-कहीं तो मिल ही जाती हैं ! (दूसरे पंछी चहचहाना शुरू करते हैं) और कभी-कभी भर चौमासे में भी कोयलरानी न कूके, तो विपुल वारि के रहते भी वर्षा सूनी जाय। भैया ! सारी गर्मी भर कूकती रहती हूं, तो बेचारी वर्षा ही से क्यों मुँह मोड़ूँ ?

तोता (चिढ़कर) कोयलरानी ! कुछ कम गुमान करो ! अकेली तुम्हीं गाना जानती हो क्या ? बड़दादा ने

बखान कर-करके तुम्हें सिर चढ़ा रखा हैं। ठीक है, मगर आज देख लो मेरा भी जौहर ! पंछीगन ! तैयार हो न ? आओ, हम उपासना का गीत गायें।

[ तोता गाना शुरू करता है और सब पंछी गाते हैं। सारा बरगद कलरव से गूंज उठता है। ]

पंछी — अखिल विश्व की प्रथम सृष्टि के दिवस शारदा की वीणा,
करती है साधना शब्द की, अपने स्वर में लय लीना;
आदिम पक्षी वहाँ व्योम से उतर अकेला गाता है,
हम सबका अपने उस पूर्वज से चिर सार्थक नाता है।
शाश्वत शब्द जान, हम उससे भर देते हैं सब संसार,
क्रीड़ा करते गिरि गह्वर में, तरु पर, सप्त-सिन्धु के पार !

कौआ — ( उतावली के साथ ) चलो भाई, अब तो चलो ! आज तो बड़ी ही अबेर हो गई। दूसरे पेड़ों के पंछी कभी के खेतों में पहुंच चुके होंगे।

गौरैया — हाँ, हाँ चलो; कागाभैया तुम ठीक कहते हो।

मैना — अच्छा तो आओ, उड़ चलें। बड़दादा, अपने इन बच्चों को सँभालना, भला !

बड़ — चिन्ता न करो बेटी ! बच्चों का बाल भी बाँका न होगा।

गौरैया — ( समझदारी जताते हुए ) और बच्चो ! तुम भी बड़-दादा को हैरान न करना, भला !

कौआ — ( धीरज खोकर ) अब चलो न गौरैया बहन ! तुम्हारी तो बातें ही खतम नहीं होतीं।

पंछी — पाय लागी, बड़दादा !

[ कई पंछी फुर्र्र...फुर्र्र उड़ जाते हैं। ]

बड़ — (असीसने को डालें झुकाते हुए) सुखी रहो बच्चो !

[ शेष पंछी भी उड़ जाते हैं। थोड़ी देर शांति छा जाती है। ]

बड़ — (स्वगत) पंछियों के बिना मेरी यह घटा ऐसी ही सूनी लगती है, जैसे किसी निपूते का घर !

[ पूरब में सूरज उगता है। कमलिनी और सूर्यमुखी के मुंह पर मुसकराहट छा जाती है। एक किरण गाती हुई आती है। ]

किरण — नभ में एक उगा उल्का-धर,
शोभा जिसकी सबसे न्यारी

ताली दे-देकर तरु-पल्लव,
जाग्रत करती हूं मैं नव नव ;
मैं स्वर्णांगुलि दिवानाथ की,
खोल नवल पलकें प्रभात की—
पत्र-पत्र पर दीप जलाकर
चूम चमेली लेती प्यारी।

झरनी — (बीच ही में रोष प्रकट करती हुई) किरणरानी ! यही तुम्हारा न्याय है, क्या ? बड़ के पत्तों-पत्तों में तुमने दीये प्रकटाये; और मेरी कमलिनी ने तुम्हारे उस मशालची के विरह में सारी रात आँसू बहाये, तब भी उस बेचारी का तुमने नाम तक नहीं लिया ?

किरण — (सुनी-अनसुनी करते हुए)—
निर्झरिणी की सरस गोद में,
मदमाती कमलिनी मोद में,

बरगद
अपने प्रिय दिनकर की रानी
नृत्य कर रही है मनमानी।
उसके उर की मधुर बात,
झुक, पूछ कान में लेती सारी।

कमलिनी (गालों पर व्रीड़ा की लाली छा जाती है और झरनी से प्रेमपूर्ण रोष के साथ चुपके-चुपके कहती है।) कितनी उतावली है माँ तू? किरणरानी को तेरी बातों से कितना क्लेश हुआ होगा?

किरण (कमलिनी की बात को चुपके से सुनकर)
रवि-सखि को सोने से मढ़कर,
हीरक बाली पहना सुन्दर;
उसकी माँ को रजत-सार से,
नहलाती हूँ बड़े प्यार से।
बहती है वह 'कल-कल, छल-छल',
रजत-धार बनकर सुकुमारी।

बड़ (कटाक्षपूर्वक) झरनी बहन! सच है कि सविता देव ने मेरे पत्तों-पत्तों में दीये प्रकटाये; पर तुम्हारी कमलिनी को तो सोने से मढ़ा और तुम्हें चाँदी से नहलाया! अब तो तुम खुश हुईं न? (झरनी शरमाती है।)

किरण बड़दादा! तुम इन्हें शरमाओ नहीं। इसमें इनका दोष ही क्या है? संसार की सभी सासें अधीर होती हैं। वे बेचारी क्या जानें कि प्रेमी का सन्देश सदा ही अन्तिम होता है—प्रीति की ऐसी ही रीति है,

सृष्टि का यही क्रम है। मगर खैर! तो अब मैं जाऊँगी, बड़दादा! चार पहर के अन्दर तो मुझे प्रत्येक फूल को छूकर लौट आना है। कमलिनी देवि! देव के लिए कोई सन्देश?

कमलिनी — (शरमाती हुई) मेरा सन्देश?

किरण — ओह, इन दो शब्दों में तो तुमने सारे ब्रह्माण्ड की बात कह डाली है, देवि! मैं यथावत् पहुँचा दूँगी। प्रणाम, देवि!

[सूरज ऊंचे चढ़ता है, किरण खिसकने लगती है।]

सूर्यमुखी — (सूर्य की गति के साथ खुद भी घूमते हुए) किरणरानी! सविताप्रभु तक इस भक्त की वन्दना पहुंचा दोगी?

किरण — अवश्य, अवश्य! क्यों नहीं पहुंचा दूँगी, सूर्यमुखी? (बड़ की ओर देखकर) तो बड़दादा, प्रणाम! कल फिर मिलेंगे।

बड़ — किरण बहन, कल की कौन जानता है? और कौन है जो तुम्हें आने से रोक सकता है? जरूर आना बहन। वन्दे!

[किरण अदृश्य होती है; कुछ देर शान्ति फैल जाती है।]

झरनी — (मुसकराती और सूर्यमुखी की ठठोली करती हुई) पुष्पराज! सविता देव ने मेरी कमलिनी को सोने से मढ़ा; मुझे चाँदी से नहलाया और बड़दादा की घटा में दीपमाला प्रकटाई; किन्तु तुम्हारी ओर तो एक नजर देखा तक नहीं।

सूर्यमुखी — चिन्ता नहीं, बहन! मैं ऐसी आशा भी तो नहीं रखता।

| | |
|---|---|
| झरनी | बहुत ही शरमीले हो तुम, सूर्यमुखी ! मेरी तरह मुँह से क्यों नहीं माँग लिया करते ? |
| सूर्यमुखी | ( कटाक्षपूर्वक ) यह तो सास का काम है, बहन ! भक्त और प्रेमी का भेद तुम भूलती हो, झरनी ! भक्त बदले में प्रेम की अपेक्षा नहीं रखता। वह तो प्रभु के प्रति अपने प्रेम से स्वयं परिपूर्ण होता है; किन्तु प्रेमी है, जो प्रतिप्रेम के अभाव में तुरन्त मुरझा जाता है। बहन, मैं तो भास्कर का एक भक्त हूँ ! |
| झरनी | ( हर्षोत्फुल्ल होकर ) तुम्हीं एक ऐसे हो, सूर्यमुखी ! हम तो बिना व्याज का धन्धा कभी नहीं करतीं। प्रेम भी कहीं निर्व्याज हुआ है ? यदि मेरी कमलिनी को वह क्षण-भर के लिए भी भूल जाय, तो मैं उसका मुँह तक न देखूँ। |
| बड़ | तुम जो चाहो कर सकती हो बेटी ! किन्तु निरपेक्ष प्रेम भी एक चीज है। मैंने उसे देखा-सुना है। |
| कमलिनी | ( अचरज के साथ ) क्या कहते हो, बड़दादा ? |
| भिण्डा | (ठठोली-सी करते हुए) बड़दादा, कुछ सुनाओगे भी, या यों ही बकबक किया करोगे ? |
| बड़ | भिण्डाभाई, मेरे भैया को तुम नहीं पहचानते ? |
| भिण्डा | नहीं, बिलकुल नहीं। |
| बड़ | और तुम, चम्पकराय ? |
| चम्पा | मैं भी नहीं पहचानता, बड़दादा ! |
| बड़ | अरे, क्या नहीं ? बड़े अचम्भे की बात है यह तो ! |

सुनो, उसका नाम वसन्त है।

चम्पा — वसन्त ? वाह, बड़दादा ! वसन्त तो मेरा भाई है।

बड़ — सच कहते हो, चम्पकराय ! वसन्त तुम्हारा, मेरा और हमारे जैसे असंख्य तरुओं का भाई है।

कमलिनी — ( अधीर-सी होकर ) हाँ, किन्तु वसन्त की क्या खूबी है ? बात तो पूरी कहो, बड़दादा !

बड़ — सुनो बेटी ! पतझड़ आकर जब मेरे सब वस्त्र हर लेती है, मेरा सब रूप लूट लेती है, और मुझे अनगिनत उँगलियों वाला सूखा ठूँठ बना जाती है, तब वह आता है।

झरनी — ( रसातुर होकर ) फिर ?

बड़ — फिर मैं उससे कहता हूँ—भैया ! जब मैं अपने पर्ण-भण्डार को लेकर डोलता था, तब तुम न आये; और प्यारे वसन्त ! जब मैं बिलकुल कंगाल बन गया, तब तुम मेरे आँगन में आकर खड़े रहे ! कहो, मैं तुम्हारा क्या आतिथ्य करूँ, भाई ?

सूर्यमुखी — फिर !

बड़ — फिर वह कहता है—प्रकृति तो मेरी बहन है, बड़भैया ! उसकी समृद्धि में ही मेरी आँखों की शीतलता है। किन्तु जब वह निर्धन हो जाती है, तभी आकर मैं उसे सोने से मढ़ देता हूँ। भला, भाई बहन से क्या ले ? उसका तो धर्म है कि वह दे। यह लो, मेरी पहली भेंट !

कमलिनी — तो वसन्तराय क्या देते हैं, बड़दादा ?

चम्पा (ज्ञान-गौरव से) अरे, तुम इतना भी नहीं जानतीं कमलिनी? पिछले साल तो वसन्तराय ने बड़दादा की डाली-डाली पर तांबे के पत्ते प्रकटाये थे। सवेरे सूर्य प्रभु के सामने ऐसे खिलखिलाकर हँसते, ऐसे हँसते, मानो माणिक चमकते हों! अबकी देखना है, वह क्या दे जाते हैं!

बड़ और चम्पकराय, तुम्हें तो वसन्त भैया ने कुछ भी नहीं दिया था, क्यों? सोने के पत्ते और 'ऊषाबरने' फूल तो किसी दूसरे ही पेड़ को दिये थे न?

चम्पा मैंने कब कहा दादा, कि उन्होंने मुझे कुछ भी न दिया। यों तो बहन चमेली को भी सुन्दर-सुन्दर सफेद फूल दिये थे। मैं तो जानता हूँ, वसन्त भैया विना पक्षपात के, उपहार में सारी प्रकृति पर, मुक्त-हस्त से अपना सौंदर्य बिखेरते हैं। पर...प....र वह मेरे किस काम का दादा? (एकाएक उदास हो जाता है।)

झरनी अचानक उदास क्यों हो गए, चम्पकराय?

[सब सोच में पड़ जाते हैं।]

कमलिनी (कुछ देर बाद) मैं समझ गई; मैं समझ गई! भला मैं न समझूँगी तो और कौन समझेगा?

[चम्पा के सुनहले मुख पर व्रीड़ा की किंचित लाली छा जाती है।]

भिराडा (रोष में—फुफकारते हुए) चुप रहो, बन्द करो अपनी ये बातें! बताओ, अबकी वसन्त कब आवेगा? मुझे वह कभी कुछ नहीं देता; अबकी

सुनो, उसका नाम वसन्त है।

चम्पा — वसन्त ? वाह, बड़दादा ! वसन्त तो मेरा भाई है।

बड़ — सच कहते हो, चम्पकराय ! वसन्त तुम्हारा, मेरा और हमारे जैसे असंख्य तरुओं का भाई है।

कमलिनी — ( अधीर-सी होकर ) हाँ, किन्तु वसन्त की क्या खूबी है ? बात तो पूरी कहो, बड़दादा !

बड़ — सुनो बेटी ! पतझड़ आकर जब मेरे सब वस्त्र हर लेती है, मेरा सब रूप लूट लेती है, और मुझे अन-गिनत उँगलियों वाला सूखा ठूँठ बना जाती है, तब वह आता है।

झरनी — ( रसातुर होकर ) फिर ?

बड़ — फिर मैं उससे कहता हूँ—भैया ! जब मैं अपने पर्ण-भण्डार को लेकर डोलता था, तब तुम न आये; और प्यारे वसन्त ! जब मैं बिलकुल कंगाल बन गया, तब तुम मेरे आँगन में आकर खड़े रहे ! कहो, मैं तुम्हारा क्या आतिथ्य करूँ, भाई ?

सूर्यमुखी — फिर !

बड़ — फिर वह कहता है—प्रकृति तो मेरी बहन है, बड़ भैया ! उसकी समृद्धि में ही मेरी आँखों की शीतलता है। किन्तु जब वह निर्धन हो जाती है, तभी आकर मैं उसे सोने से मढ़ देता हूँ। भला, भाई बहन से क्या ले ? उसका तो धर्म है कि वह दे। यह लो, मेरी पहली भेंट !

कमलिनी — तो वसन्तराय क्या देते हैं, बड़दादा ?

तब तो, तुम देखते ही हो कि मैं अब खूब बूढ़ा हो चुका हूँ। कल की कौन जानता है!

भिण्डा — (कृपा के भाव से) मुझे मंजूर है। लेकिन एक महीनें के बाद तुम्हें यहां से हट ही जाना होगा।

चम्पा — हा....हा....हा भिण्डाभाई! तम तो कमाल कर गए

झरनी — (हंसती हुई) कल....कल....कल! भिण्डाभाई, वाह क्या कहने हैं तुम्हारी अकल के!

भिण्डा — (भौंहें सिकोड़ते हुए) अरे, ये तुम सब मिलकर मेरी हंसी क्यों उड़ा रहे हो?

झरनी — (तनिक कठोरता के साथ) भिण्डाभाई! छोटे मुंह बड़ी बात शोभा नहीं देती। भादों बीतते न बीतते तो तुम समाप्त हो चुकोगे—मिट्टी में मिल चुकोगे। अरे, मेरे किनारे तो तुम्हारे-जैसे हजारों भिण्डे उग चुके और उखड़ चुके हैं। इस तरह बड़दादा का अपमान करते तुम्हें लाज नहीं आती? अरे, जिसने सौ-सौ बरस तक पृथ्वी पर छाया की, उसे उसकी सेवा का यही पुरस्कार दोगे तुम?

बड़ — बेटी झरनी! शान्त हो जाओ, गुस्सा न करो, बालक है अभी!

भिण्डा — (अपमान से कांपते हुए) बालक? मैं बालक? बड़-दादा, कहता हूँ अपने ये शब्द लौटा लो। कैसा भी क्यों न होऊँ तुम्हारी तरह झुक-झुककर सलाम तो नहीं करता। मेरा सर तो तना हुआ है, और तना रहेगा। ये तुम्हारी डालियां—कैसी खुशामद करने

मैं सब उपहारों का बदला एक ही साथ उससे चुका लूँगा।

बड़ (हंसते हुए) भिण्डाभाई! उनके आने से पहले तो तुम शून्य स्वरूप पा चुकोगे!

भिण्डा (क्रोध से, नथुने यानी भिण्डियाँ फुलाकर) बस करो, बड़दादा! रहने दो अपना यह गुमान! जानों हम मर जायंगे, और तुम अमर रहोगे? तुम्हें अपने बड़प्पन का बड़ा गरूर है। अरे, तुम्हें इतना बढ़ने में सौ बरस लग गये, जबकि मैं इतना तो एक ही महीने में बढ़ गया। तुम्हारी उमर में तो मैं आसमान को छू लूंगा। और देखो, मेरे इन पत्तों को तो देखो; कैसे बड़े-बड़े हैं! बड़दादा, अब तुम कृपा करके नई पीढ़ी के लिए जगह खाली कर दो। मैं अब यहाँ नहीं अँटता। तुम दूर हटो—मेरी प्रगति को तुम्हीं रोक रहे हो।

बड़ (विज्ञ की-सी हंसी हंसते हुए) अवश्य-अवश्य, भिण्डा-भाई! मुझे यहाँ से हटकर तुम्हें जगह दे ही देनी चाहिए। लेकिन भिण्डाभाई! तुम्हीं सोचो, सौ बरस की अपनी इस पुरानी जगह को, यों बात-की-बात में कठोर होकर मैं कैसे छोड़ सकता हूँ? सिर्फ एक महीने की और मोहलत दो मुझे! यह भादों तो खतम ही होने को आया; क्वार के बीतते ही मैं तुम्हारे लिए स्थान करने को यहाँ से खिसक जाऊंगा। और अगर प्रकृति को ही तुम्हा अभीष्ट होगी

तब तो, तुम देखते ही हो कि मैं अब खूब बूढ़ा हो चुका हूँ। कल की कौन जानता है !

भिरडा (कृपा के भाव से) मुझे मंजूर है। लेकिन एक महीनें के बाद तुम्हें यहां से हट ही जाना होगा।

चम्पा हा....हा....हा भिण्डाभाई ! तम तो कमाल कर गए

झरनी (हंसती हुई) कल....कल....कल ! भिण्डाभाई, वाह क्या कहने हैं तुम्हारी अक्ल के !

भिरडा (भौंहें सिकोड़ते हुए) अरे, ये तुम सब मिलकर मेरी हंसी क्यों उड़ा रहे हो ?

झरनी (तनिक कठोरता के साथ) भिण्डाभाई ! छोटे मुंह बड़ी बात शोभा नहीं देती। भादों बीतते न बीतते तो तुम समाप्त हो चुकोगे—मिट्टी में मिल चुकोगे। अरे, मेरे किनारे तो तुम्हारे-जैसे हजारों भिण्डे उग चुके और उखड़ चुके हैं। इस तरह बड़दादा का अपमान करते तुम्हें लाज नहीं आती ? अरे, जिसने सौ-सौ बरस तक पृथ्वी पर छाया की, उसे उसकी सेवा का यही पुरस्कार दोगे तुम ?

बड़ बेटी झरनी ! शान्त हो जाओ, गुस्सा न करो, बालक है अभी !

भिरडा (अपमान से कांपते हुए) बालक ? मैं बालक ? बड़-दादा, कहता हूँ अपने ये शब्द लौटा लो। कैसा भी क्यों न होऊँ तुम्हारी तरह झुक-झुककर सलाम तो नहीं करता। मेरा सर तो तना हुआ है, और तना रहेगा। ये तुम्हारी डालियां—कैसी खुशामद करने

को झुकी-सी पड़ती हैं ? और तुम्हारे ये पत्ते ? कैसे नन्हें-नन्हें ! अरे, जैसा तुम्हारा मन है, वैसे ही तुम्हारे ये पत्ते भी हैं। जरा इधर देखो, मेरे इन पत्तों को, कैसे उस महाप्रभु का आवाहन करने को हाथ उठाये खड़े हुए हैं !

बड़ (बात चुभ जाती है, पर सुजनता नहीं छोड़ता) नरमी और खुशामद में फरक है, भिण्डाभाई ! लेकिन जाने दो इस बात को, वीरों की परीक्षा तो समय पड़ने पर ही होती है।

चम्पा ( तिरस्कारपूर्वक भिण्डे की ओर हंसते हुए, ) भिण्डे, नादान हो, निपट नादान !

[ भिण्डा सुनकर जल उठता है। सूरज बीच आसमान में आता है। क्षण भर के लिए शान्ति छा जाती है।]

बड़ अरे, आज तो बातों-ही-बातों में सारा समय बीत गया। वह देखो, सविता देव का रथ भी बीच आसमान में आकर ठिठक गया है। ( सूरज की ओर एक टक देखते हुए सूर्यमुखी को लक्ष्य करके) सूर्यमुखी ! यों अपलक कब तक सविता देव को देखा करोगे ?

सूर्यमुखी ( बिना मुंह फेरे ) तब तक बड़दादा, जब तक भगवान् सविता देव की यह यात्रा समाप्त न हो।

बड़ सो तो तुम्हीं कर सकते हो, सूर्यमुखी ! तुम्हारी भक्ति अनन्य है। ( घड़ी भर फिर सन्नाटा छा जाता है। पश्चिम की ओर देखते हुए ) अहा हा ! वह देखो, ग्वालिन आ रही है। जान पड़ता है, थके-मांदे ग्वाले

के आराम का समय हो गया।

[ ग्वालिन आती है। मांग में सिंदूर, आंखों में अंजन, नाक में नथ, हाथों में कड़े, पैरों में झांझ, घेरदार घांघरा और कसुम्बी चूंदरी। माथे पर मट्ठे की मटकी और भात की पोटली—गाती, नाचती आती है। ]

ग्वालिन — मैं अपने ग्वाले की ग्वालिन,
मैं अपने राजा की रानी !

वह आम मधुर रस धारी,
मैं मृदुल प्रेम की क्यारी,
सिन्दूर मांग में शोभन
आंखों में मादक अंजन,
मैं मुग्ध मोरनी-सी बन
नाचूं 'ताथेई-तन-तन'।
मेरे मोर ! बोल मृदुबानी,
आ मेरे प्रियतम, सैलानी !
मैं अपने ग्वाले की ग्वालिन,
मैं अपने राजा की रानी !

[ मोर प्रवेश करता है। ]

मोर — ग्वालिन बहन ! जरा वह पद फिर से गाओगी ? कुछ हमारे बारे में था न ? मोरनी रानी को भला आज तुमने कैसे याद कर लिया ?

ग्वालिन — ( नाचती हुई, मोर की गरदन सहलाते हुए ) रे सौंदर्य-पंछी ! वह मोर तो मेरा 'बालम' है, तुम नहीं। और मोरनी रानी तो मैं खुद हूँ। भला, कौन है जो तुम्हारी

चाल चलना न चाहे ? हाँ, तो तुम वह पद फिर से सुनना चाहते हो ? मैं सुनाऊंगी, मगर एक शर्त है— तुम्हें मेरे साथ नाचना होगा।

मोर — मुझे मंजूर है बहन !

ग्वालिन — ( नाचने-गाने लगती है। मोर पंख फैलाकर साथ साथ नाचता है। )

सिंदूर मांग में शोभन
आंखों में मादक अंजन,
मैं मुग्ध मोरनी-सी बन
नाचूं 'ताथेई तन-न-न'।
मेरे मोर ! बोल मृदुबानी;
आ मेरे प्रियतम सैलानी !
मैं अपने ग्वाले की ग्वालिन,
मैं अपने राजा की रानी !

( एकाएक रुककर ) अरे, वे अभी तक क्यों नहीं आये ? बड़दादा, जरा देखो तो, वे अभी तक क्यों नहीं आये ?

बड़ — मेरी छाया तले बैठकर ज़रा देर राह देखो बेटी ! अभी आते ही होंगे।

ग्वालिन — नहीं, नहीं, मैं बैठूंगी नहीं दादा ! जाऊं, उनके आने तक चम्पकराय से थोड़े फूल ले आऊं। बड़-दादा, मट्ठे की मेरी इस मटकी को संभालना, भला !

बड़ — बेफ़िकर रहो, बेटी ! मेरे तने के पास उसे रख दो। पंछी तो सब उड़ गए हैं, अब कौन है जो उसमें चोंच

भी डुबाये ?

[ ग्वालिन बड़ के तने के पास मटकी और पोटली रखकर चम्पा की ओर जाती है। ]

मोर — बहन मुझे विदा दो, मैं जाऊंगा। यह लो मेरा एक पंख, जीजाजी आयें तो उनकी पगड़ी में खोंस देना !

[ मोर अपना एक पंख गिरा कर जाने लगता है। ]

ग्वालिन — ( मोर से ) तुम जाओगे भैया ? अच्छा, जाओ, कभी-कभी आया करो भाई ! ( चम्पा के पास जाकर ) बहन की एक मांग पूरी करोगे, चम्पकराय ?

चम्पा — क्यों नहीं, बहन ! मांगो; जो मांगोगी, दूंगा !

ग्वालिन — कुछ नहीं, यही दो-चार फूल....

चम्पा — ( बीच ही में ) दो-चार क्यों, सभी ले जाओ न ? मेरे किस काम के हैं ? तुम्हारी तरह मेरे कोई ग्वाला तो है नहीं ! और बहन, तुम जानती हो कि भ्रमरराय तो मुझसे सदा के लिए रूठ बैठे हैं।

ग्वालिन — नहीं-नहीं, चम्पा भाई ! सबको मैं क्या करूँगी ? यही दो-चार दे दो। ( चम्पा कुछ फूल गिरा देती है। ग्वालिन उन्हें चुनकर बरगद के पास पहुँचती है, चादर फैलाती है और उस पर थोड़े फूल बिछा देती है। तसले में दूध, चावल और शक्कर मिलाती है। ) बड़दादा ! जरा ऊंची गरदन करके एक नज़र तो फेंको। अब वे और कितनी दूर हैं ?

ग्वाला — दूर नहीं हूँ, यह आ ही तो रहा था। बड़ी उतावली हो तुम ! अरे आज वह जमुना ज़रा बिदक गई थी,

सो उसे खोजने में तनिक अबेर हो गई। बड़ी बेढब गैया है।

ग्वालिन (झूठ रीस के साथ) रहने दो, भरी दुपहरी में भी तुम्हें तो फुरसत नहीं।

ग्वाला भला, तू ही कह, मैं क्या करूं? (कहता हुआ चादर पर बैठता है। पगड़ी उतारकर ग्वालिन को देता है और खाना शुरू करता है। ग्वालिन पगड़ी के पल्ले पर फूल और पंख गूंथ देता है।) बड़दादा! तुम्हारी छांह है तो रोज़ आराम से बैठकर खा पाते हैं। तुम्हारा यह उपकार कैसे भूला जाय?

बड़ इसमें उपकार क्या है, भाई!

झरनी गोपराज! इनका तो जनम ही तपे हुओं को छाया देने के लिए है।

ग्वाला सो तो इनके उदार मन का परताप है झरनी बहन! (ग्वालिन से) अच्छा, थोड़ा पानी तो पिलाओ!

[ग्वालिन झरनी से पानी ले आती है।]

बड़ गोपराज! तुम्हारे खाने से कुछ बच जाय, तो एक कौर यहां छोड़ते जाना। तुम जानते हो, मेरी गिल-हरी अभी तक भूखी है, उसे कुछ खाने को तो चाहिए न?

ग्वाला हां, हां, दादा! भला, क्यों न चाहिए!

[एक कौर फेंक देता है। गिलहरी किच-किच करती आती है और कौर उठा ले जाती है। ग्वाला पानी पीकर खड़ा हो जाता है।]

ग्वालिन लो, यह अपनी पगड़ी। सांझ को ज़रा सवेरे ही

लौट आना।

[ ग्वालिन पगड़ी दे देती है। ]

ग्वाला (पगड़ी लेकर) बहुत अच्छा, आऊँगा।

[ जाता है। ]

ग्वालिन मेरे बड़दादा! मैं भी अब जाऊँ? घर पर तुम्हारा
लल्ला रोता होगा।

'रुम-झुम रुम-झुम' नूपुर का स्वर
स्नेह-सितारा शुभ्र भाल पर,
खेत जोत पति आते जब घर
सब थकान मैं खोती सत्वर;
करती प्रियतम की अगवानी,
हाथ धुलाती लाकर पानी।
मैं अपने ग्वाले की ग्वालिन,
मैं अपने राजा की रानी।

प्रिय के लिए छोड़ घर जाती
दौड़ मेंड़ से लेकर आती,
भात-मठा स-प्रेम खिलाती
फिर फूलों की सेज बिछाती;
वे मेरी छवि पर पागल हैं,
मैं उनकी छवि पर दीवानी।
मैं अपने ग्वाले की ग्वालिन,
मैं अपने राजा की रानी।

प्रिय की पगड़ी में चुन-चुनकर
गूंथ सजाती चारु चमेली,
कर शृंगार मोर पंखों से,
उसे बनाती मैं अलबेली;
प्रिय के उर से लगती है तब,
मधुर प्रेम की झड़ मनमानी।
मैं अपने ग्वाले की ग्वालिन,
मैं अपने राजा की रानी।

[ इसी तरह गाती-नाचती चली जाती है। ]

बड़ — ( कुछ देर ग्वालिन को एकटक देखकर ) वाह रे सुखी जोड़ा !

झरनी — दादा, जोड़ा क्या है, मानो मोर और मोरनी हैं !

चम्पा — ( ईर्ष्या से ) दादा ! भला दो होकर कोई सुखी न हो, तो क्या हो ?

[ कुछ देर सन्नाटा रहता है। फिर हंसों की एक टोली उड़ती-उड़ती आकर बरगद पर ठहरती है। ]

झरनी — बड़दादा ! तुम्हें तो एक पल की फुरसत नहीं ! एक गया और दूसरा आया, दूसरा गया और तीसरा तैयार !

बड़ — और तुम्हें भी कौन आराम है झरनो बहन ! इतने बरसों से तो मैं देख रहा हूँ, कभी तुम्हारी धारा को क्षण भर भी ठहरते नहीं देखा। वाह रे, सुखी जीवन !

झरनी — बड़दादा ! सयानों का कहना है कि बहता पानी अच्छा !

बड़ — सच कहती हो, लेकिन अपनी इन बातों में नये अतिथियों को तो मानो हम भूल ही गए! (हंसों से) मानसवासियो! आज किधर से आना हुआ?

राजहंस — दूर—दूर दक्षिण से, दादा!

बड़ — और तैयारी किधर की है?

राजहंस — तैयारी तो मानसर की ही है दादा, हम और कहां जा सकते हैं?

बड़ — तो प्यारे मानसवासियो! आज की रात मेरे घर बसेरा न लोगे? मेरे पंछी तुम्हें देखकर बहुत ही खुश होंगे।

राजहंस — बड़दादा! आप जानते हैं, हम ठहरे प्रवासी पंछी। मानसर के सिवा हम और कहीं नहीं ठहरते; और वैसे तो बन-बन गाते ही फिरते हैं।

बड़ — मित्रो! तुममें से कोई प्यासा तो नहीं है? झरनी बहन को अपनी ही समझना, भला!

[ कुछ हंस उड़े और उड़कर झरनी के किनारे पहुंचे। ]

झरनी — हंसराज! तुम्हारे मानस का-सा मीठा जल तो मैं गरीब कहां से पाऊं! फिर भी जैसा कुछ है, तुम्हारी सेवा में अर्पित है।

[ हंस पानी पीकर वापस बड़ पर आ बैठते हैं। ]

राजहंस — बड़दादा, इस आश्रय और आतिथ्य के लिए हम तुम्हारे कृतज्ञ हैं। अब हम जायंगे दादा, हमें विदा करो। पायलागी!

बड़ — मित्रो! आये क्या और चले क्या?

राजहंस जब जाना ही है तो जितनी जल्दी जायं, उतना ही अच्छा। कहीं इधर-उधर मन फंस जाय तो हमारा मानस हमसे रूठ बैठे बड़दादा! (हंसों से) आओ हंसवृन्द! अब हम उड़ चलें।

हंसवृन्द हम सागर के द्वीपांचल से जाते हैं उड़कर हिमगिर पर,
कर पार सात सागर, मानस में केलि करेंगे जी भरकर।

फूले अनार रस वाले हैं
अमरूद हुए मतवाले हैं,
पर हम तो मोती चुगने को
जाते मानस-पथ पर सत्वर।

बन में खिलते हैं रजत सुमन
खुलती पंखुड़ियां मधुमय बन,
पर हम तो सर के कमल खिलाने
जाते हैं फिर अपने घर।

हम जग-यात्री मदमाते हैं
मरने मानस पर जाते हैं,
हम अन्तिम गाना गाते हैं
नभ चीर, उमड़कर पृथ्वी पर।

[ एक ओर से हंसों की टोली गाती हुई उड़ जाती है, और दूसरी ओर से विद्यार्थी गाते हुए आते हैं। ]

विद्यार्थी मित्रो! बस्ता पट्टी रखकर,
खेलो कूदो बट पर जाकर।

गुरुजी जब विलम्ब से आते
कैसी अद्भुत छवि दिखलाते,
मानो कुठली दौड़ी आती
है कछुए-से पैर उठाकर।

खड़े झाड़-झंखाड़ सरीखी
मूंछें हैं गुरुजी की तीखी,
शब्दावलि रह जाती जिसमें
प्रायः उलझ, अटक, टकराकर।

सर पर गोल पग्ग चक्कर-सा
कद्दू पेट, वदन गह्वर-सा,
खींच मारते स्लेट, पहाड़ों में—
गिनती में, गलती पाकर।

जमुहाई लेते कुर्सी पर
झुक-झुक पड़ते पीनक लेकर,
मुर्गों की-सी आँख फाड़ते
हमें घुड़क देते हँसने पर।
मित्रो ! बस्ता-पट्टी रखकर,
खेलो, कूदो, बट पर जाकर !

बड़ प्यारे बालको ! यह कैसा न्याय है कि गुरुजी तुम्हें हैरान करें, और तुम मुझे हैरान करो ? कल मेरी कितनी जटायें नोच डाली थीं तुमने ? होने दो तुम्हारे गुरुजी से मेरी मुलाकात—तुम्हारी सब पोल खोल न

दूं, तो मुझे कहना !

विद्यार्थी (मुंह चिढ़ाकर)

मूंछें दादा की खींचें हम
यह अधिकार हमारा सत्तम,
सहज नहीं बड़दादा बनना
खींचेंगे हम जटा निरन्तर।
मित्रो ! बस्ता-पट्टी रखकर,
खेलो-कूदो बट पर जाकर !

बड़ (ठठाकर हंसते हुए) अच्छा, अच्छा भाई ! लेकिन आज ज़रा संभल कर खेलना, भला ! (गंभीर भाव से समझाते हुए) कल तुम मेरी गौरैया का घोंसला क्या नोच गए, बेचारी सारी रात रोती ही रही ! आज ऐसा न करना, समझे ?

एक विद्यार्थी शर्त यह है कि तुम गुरुजी से हमारी कोई शिकायत न करो।

बड़ (प्यार करने को डालियाँ झुकाते हुए) पागल हो, पागल ! अरे भाई, गुरुजी से भी कोई बात कही जाती है ? मेरा इतना-सा मज़ाक भी तुम न समझे ? सुनो, मेरी कोई शर्त नहीं है। तुम्हें जो जँचे करो, न जँचे न करो।

दूसरा विद्यार्थी अहा ! तुम कितने अच्छे हो, बड़दादा ! तो अब अपनी डालियाँ ज़रा झुका दो न ! (साथियों से) मित्रो, आओ हम खेल शुरू करें।

[ दो को छोड़कर शेष सब बरगद पर चढ़ने लगते हैं। ]

अंतिम विद्यार्थी अरे भागो रे, भागो ! वह देखो, हाथ में डण्डा लिये वह कुठली-सी लुढ़कती चली आ रही है।

[ लड़के टपाटप नीचे कूदकर भागने लगते हैं। ]

तीसरा विद्यार्थी तो अब यह कहो कि हमें अपनी यह जगह भी बदलनी होगी ! मालूम होता है गुरुजी को हमारी इस जगह का पता चल गया है; इसीलिए तो जब हम पाठशाला में न मिले तो वे हमें खोजते हुए यहाँ बटशाला की ओर चले आये !

[ सब भाग जाते हैं। कुछ देर शान्ति छा जाती है। ]

बड़ (स्वगत) देखो, यह साँझ हुई और पंछियों के आने का समय हुआ। बेचारे थके-मांदे आवेंगे और अपने बच्चों को घोंसलों में सुरक्षित पावेंगे, तो कितने खुश होंगे ! झरनी बहन ! स्वयं सुख भोगने के बदले दूसरों को सुख पहुंचाने में कितना आनन्द है !

झरनी हां बड़दादा ! मगर तुम ठहरे दरियादिल और मैं ठहरी तंगदिल ! आज इतने-इतने बरस बीत गए, एक ही संकरी धारा में बहा जो करती हूँ। अब तो यह निगोड़ा स्वभाव बदले भी नहीं बदलेगा !

[ कौओं की एक टोली आती है। ]

कौवे का........का........का ! नहीं, नहीं—भूल हुई; दा........दा.......दा—बड़दादा ! कुशल तो है न ?

बड़ हाँ बच्चो, कुशल ही कुशल है। कहो, आज दाने तो मिले न ?

कौआ दादा, दानों से तो खेत भरे पड़े हैं; ये सब हैं किसके ?

बड़ — तुम्हीं सबों के—खाने वालों के। ( दूसरे पंछी भी उड़-कर आते हैं और बरगद पर बैठते हैं। ) ओहो ! तो तुम सब आ गये—सब अच्छे तो रहे न ?

पंछी — बहुत अच्छे हैं, दादाजी ! और हमारे बच्चे तो सही सलामत हैं न ?

बड़ — हाँ, जाओ, उनसे मिलो। वे सब कुशल हैं।

[ सूरज आधा डूबता है। किरण प्रवेश करती है। ]

किरण — विदा, बड़दादा ! प्रणाम कमलिनी देवि ! तुम्हारा सन्देश मैंने सूर्य-प्रभु तक पहुँचा दिया है।

कमलिनी — नारायण से कहना, कमलिनी के लिए ब्रह्माण्ड-भर में अकेले वे ही दर्शनीय हैं। दूसरे किसी का वह मुंह तक नहीं देखती।

किरण — इस प्रीति का प्रतिदान तो देवि, कल प्रातः भगवान् भास्कर तुम्हें अवश्य देंगे। इस समय तो हमारा राज्य अस्त हो रहा है। जाता हूँ देवि, प्रणाम !

[ सूर्य पश्चिम सागर में डूबता है। किरण अदृश्य होती है। कमलिनी मुरझा कर सो जाती है। ]

पपीहा — पंछीगण ! देखो, भगवान् सूर्यनारायण तो अस्त भी हो गए। तो अब हम सायं-प्रार्थना करके अपने घोंसलों में क्यों न जायँ ?

सुग्गा — बिलकुल ठीक कहते हो पपीहा भाई ! मगर आज प्रार्थना कौन करायेगा ?

पपीहा — सबकी सलाह हो, तो मैं करा सकता हूँ।

मैना — हाँ पपीहा भाई, आज तो तुम्हीं करा दो !

[ पपीहा प्रार्थना शुरू करता है; दूसरे सब पंछी उसका साथ देते हैं। ]

पंछी (गाते हैं।)

कितने खेत झुलाते देखे, मोती से भुट्टे लासानी,
'छल-छल' उर का स्नेह ढालती नदियों का है मीठा पानी;
रैन-बसेरे को चिड़ियों के बन में वट ने झूले डाले,
चमक रहे नौ लाख सितारे, गगन-अटारी के रखवाले।
प्रति दिन प्रेम सहित खग-पालक, प्रकृति पक्षिणी तू अविकार,
महिमामयि, माँ! शत वंदन, हम सरल खगों के कर स्वीकार!

बड़ प्यारे पंछियो! जाओ, अब सो जाओ। रात भी हुई और ये तुम्हारे नौ लाख सूबेदार भी पहरे पर चढ़ चुके। (जरा ठिठक कर, कुछ देर में) म....ग....र, आज मुझे यह क्या हो रहा है? तुमसे बिछुड़ते हुए आज यह झिझक क्यों मालूम होती है? (थोड़ी देर बाद) कुछ नहीं, कुछ नहीं! जाओ, सो जाओ; प्यारे बच्चो सो जाओ!

पंछीगण पायलागी बड़दादा! सबेरे हमें ज़रा जल्दी ही जगा देना।

[ पंछी अपने घोंसलों में जाते हैं। कुछ देर तक शांति रहती है। फिर तारागण गाना शुरू करते हैं। ]

तारागण गगन अटारी 'जगमग' करने,
संध्या आकर दीप संजोती।
रजनी 'नौ-लख' ज्योति प्रकट
करने आती है, लज्जित होती।

वायु चतुर्दिक् से आती है,
दीप बुझाने निर्मम बन ;
केवल कम्पित हो रह जाते,
बुझते नहीं चपल तारक-गण ।
नभ झँझर सिर पर रख जग में,
आद्य शक्ति रचती है रास ;
उसके छिद्र सितारे 'नौ-लख'
जिनसे झरता मधुर प्रकाश ।
अम्बर के उस पार विश्वपति
की आभा है ज्योतित होती ,
गगन अटारी 'जगमग' करने,
संध्या आकर दीप सँजोती ।

शुक्र — बड़दादा, अब तो रात जमने लगी, मैं जाऊँगा । जो जल्दी जागे, सो जल्दी सोये । प्रणाम, दादा !

बड़ — खुश रहो, शुक्र भैया ! रोज दरसन दिया करो ।

[ शुक्र अस्त होता है । पूरब में चन्द्र उगता है । ]

तारागण — जय हो, उडुगणपति की जय हो !

कुमुदिनी — देव की जय हो !

चन्द्र — कुमुदिनी !.......( रुक जाता है । )

कुमुदिनी — देव !........(रुक जाती है । दोनों एक दूसरे को एकटक देखते हैं, और मौन रहते हैं । )

देवयानि — बड़दादा ! यह आकाश भी तो एक विशाल बरगद ही है, और हम तरागण उसके फल हैं । (बरगद हँसता है) और बड़दादा, जब तुम बिलकुल बच्चे थे, मैं तुम्हें

अपनी आँखें टिम-टिमाकर हँसाया करती थी। मैं दिखती तो बहुत छोटी हूं, पर दादा, अनगिनत चौमासे बिताये हैं मैंने !

मंगल — और मैं अपनी लाल आँखों से तुम्हें झूठ-मूठ डराया करता था, बड़भैया !

गुरु — और मैं तो तुम्हारे पिता को भी पहचानता हूं, वट-राज ! तुम्हारे स्थान से पूरब में सौ कोस पर पहले एक बड़ा बरगद का पेड़ था। कोई पंछी उसका एक फल लेकर आया और यहाँ फेंककर उड़ गया।

श्रवण — और फिर उसके अन्दर से एक अंकुर फूटा।

बड़ — और फिर उसे सौ बरस बीत गए और मैं इतना बड़ा हो गया। किन्तु तुम मंगलभैया, इतने-के-इतने ही कैसे रहे ?

मंगल — बड़भैया ! मेरे पास आओ तो तुम्हें मेरे कद का पता चले। यह समझो कि तुम्हारी धरती माता की बराबरी कर सकता हूं !

बड़ — और श्रवण भाई ! क्या तुमने भी मेरा बचपन देखा था ? सौ बरस हुए माता-पिता को काँवड़ में बैठाकर निकले हो, फिर भी तुम्हारी यात्रा अब तक पूरी न हुई ?

श्रवण — बड़भैया, सौ बरस तो क्या, तुम कल्पना भी न कर सको इतने कल्पों से मैंने अपनी यह यात्रा शुरू की है, और अभी तो असंख्य कल्पों तक यह समाप्त न होगी। हमारी तो अनन्त यात्रा है, भाई ! लेकिन

देखो, यह आधी रात हुई। अब मैं जाऊँगा। प्रणाम, बड़भैया !

[ श्रवण अस्त होता है। कुछ देर में ओस गाती हुई आती है। ]

ओस — बारह-बारह बालायें हैं, मँजु बादलों के भवनों में,
मैं तेरहवीं रोती प्रतिक्षण, हृदय लुटाती अश्रुकनों में।
जन्म लिया मैंने आँसू में, आँसू ही मेरे जीवन में,
मैं पगली बिखेरती फिरती, आँसू ही वन-वन, उपवन में।
अगणित फूलों को पहनाती, आँसू की नथ प्यारी-प्यारी,
मोती पिरो-पिरो तृण-दल को, शोभित करती क्यारी-क्यारी।
लौंग कुमुदिनी के पहनाती, अरुण कान में मोती-बाली,
ढूँढ़-ढूँढ़कर गूँथा करती, मैं 'जगमग' हीरे मतवाली।

बड़ — आओ अश्रुसुन्दरि ! अबकी जरा कम ही बरसना, भला ! तुम्हें मालूम नहीं, कल मेरे पंछियों को जुकाम हो गया था।

ओस — हम तो सदा कम ही बरसती हैं, बड़दादा ! यह करतूत तो तुम्हारे मेघराज की होगी ! ( कुमुदिनी के पास जाती है। ) कुमुदिनी बहन ! टक लगाये हो क्या ?

कुमुदिनी — ( लजाती हुई ) अश्रुबहन, आओ !

ओस — आई बहन, तुम्हें सिंगारने आई हूँ। सखी की शोभा ही तो मेरी अभिलाषा है, कुमुद !

[ ओस कुमुदिनी के कान में लौंग और बेनी में हीरे गूँथती है। ]

कुमुदिनी — ( ओस को गले लगाते हुए ) अश्रुबहन ! इतना प्रेम

करती हो, फिर भी मन की बात मुझसे क्यों छिपाती हो ? ये अखण्ड आँसू किसलिए हैं, बहन ?

ओस — ( गाते-गाते कुमुदिनी के गाल पर एक चपत जमाते हुए ) तुम यह बात मुझसे न पूछा करो, कुमुद ! (जाती है।)

[ कुछ देर शान्ति रहती है। समीर गाता हुआ आता है। ]

समीर —
निद्रा बैठी सिन्धु द्वीप में,
उढ़ा रखा अवनी पर अंचल।
मन्द-मन्द लोरियां सुनाती,
सोते जग के जीव अचंचल।
बट की शाखा के पलने में,
मधुर नींद विहगों को आती।
हम हैं डोर अदृश्य रत्नमय,
जिसे खींचकर नींद झुलाती।
गान गंभीर मधुर गुँजित,
निद्रा का है सितार वह सुन्दर!
'फर-फर' करती वायु कँपा—
देती निद्रा की अंगुली छू कर।

बड़ — मेरे इन पौढ़े हुए पंछियों को झुलाने आये हो क्या समीर भैया ? आओ, पधारो !

समीर — ( नम्र बनने की चेष्टा के साथ ) झुलाने वाली तो समुद्र की गोद में बैठी है, बड़दादा ! हम तो उसको अदना, अदृश्य हीरक की डोरियां है। ( कुमुदिनी के निकट जाता है। ) कुमुदिनी ! नींद नहीं आती ? देखो तुम्हारी बहन, यह कमलिनी, कैसी बेखबर सो रही है।

कुमुदिनी (ठठोली करते हुए) समीर ! निशानाथ के बदले यदि दिनकर आकाश में बिराजे होते और कमलिनी इस तरह सोती रहती, तो मैं जीवन-भर सोना कबूल कर लेती। (मदमस्त होकर) प्रेम के मद के सामने नींद की मस्ती की हस्ती ही क्या है, समीर राय !

समीर (कुमुदिनी के साथ छेड़खानी करते हुए) ओफ् हो ! तुम्हारा तो कुछ अनोखा ही ढंग है कुमुदिनी !

कुमुदिनी दूर रहो, समीर ! जाओ, अपनी नींदरानी से मेरा प्रणाम कहना।

समीर (कुछ ज्यादा बौखलाहट के साथ) कुमुदिनी !

कुमुदिनी देखो समीर ! मुझे छूना मत ! (समीर छूने जाता है।) अरे, अरे ! तुम मुझे छू लोगे तो मेरी ओस द्वारा गूँथे हुए मेरे ये मोती टूट पड़ेंगे। समीर, दूर रहो, बिलकुल दूर !

समीर (मनमौजी की तरह) कुमुदिनी !....(और कुमुदिनी को झुलाता हुआ चला जाता है।)

कुमुदिनी (क्रोध से थर-थर काँपती हुई) बेहया, निर्लज्ज कहीं का ! (समीर की ओर घूरती है।)

चन्द्र (आँखों में अमी भरकर) बहुत उग्र हो उठी, कुमुदिनी ! समीर तो नादान है, नादान !

कुमुदिनी (लज्जा से नत होकर) देव !

चन्द्र कुमुदिनी ! देखो, आज तो हमें जल्दी ही बिछुड़ना होगा ! वह देखो, क्षितिज पर बादल घिरने लगे।

कुमुदिनी देव ! बस, इतनी-सी देर में ?

चन्द्र — पगली हो, पगली! तुम्हारी गिनती में इतना समय कुछ भी नहीं है क्या? मालूम होता है, तारा-मैत्रक में तुम्हें समय का भी भान न रहा। खैर, तो अब मैं जाता हूँ; कल फिर मिलेंगे।

कुमुदिनी — अवश्य पधारियेगा देव! मैं बाट जोहूँगी। (वन्दन कर सिर नवाती है।) देव! दूसरे नमनों में तो सिर फिर उठता है, पर मैं तो तुम्हारे पुनरोदय तक इस नमन को बनाये रहूँगी।

चन्द्र — कुमुदिनी! जाता हूँ। घिरता हूँ। देखो, आज के ये बादल कुछ कठोर-से, अप्रिय-से, प्रतीत होते हैं; तुमने देखा, देवि!

[चन्द्र की किरणें कुमुदिनी को अन्तिम बार चूमकर अदृश्य हो जाती हैं। कुमुदिनी सो जाती है। आकाश घिरने लगता है। क्षण-भर शान्ति फैल जाती है।]

बड़ — (गम्भीर भाव से) आज यह आकाश ऐसा घनघोर क्यों बन रहा है? कितना भयानक हो रहा है? (कुछ देर चुप रहता है। मनोव्यथा की किंचित छाया मुंह पर छा जाती है।) ऐसा प्रतीत होता है, मानो इसी तरह आज मेरा मन भी घिर रहा है। (कुछ ठहर कर) ओह! आज यह क्या हो रहा है? ओफ! ओफ! छाती में यह धड़कन कैसी? (एक उलूक बरगद की घटा में बैठकर भयावनी आवाज़ करता है। बरगद चौंक पड़ता है।) ओह! कैसी भयावनी आवाज़, कैसा अमंगल! लोग कहते हैं जिस पर उलूक बोले,

उस पर यमराज डोले ! (कुछ ठहर कर) उड़ जा, उड़ जा, अरे ओ अमंगल पंछी ! उड़ जा। तेरी भयावनी आवाज़ से मेरे पंछियों की नींद खुल जायगी, और वे तड़प उठेंगे। (उल्लू एक बार फिर भयंकर आवाज़ करके उड़ जाता है। कुछ देर बाद) तो क्या इन पौढ़े हुए पंछियों को जगाऊँ...और जगाकर इनसे अन्तिम विदा ले लूँ ?.... (ठहर कर) नहीं, नहीं। वह सब तेरे मन का भ्रम है, बरगद ! निरा भ्रम, निरा मोहजाल ! (कुछ देर आसमान की ओर देखता रहता है।) आज के इन बादलों में कुछ फ़र्क है। अरे, ओ बादलो ! आज तुम सदा की भाँति मुझे ब्रह्माण्ड की गहन बातें क्यों नहीं सुनाते ? आज ऐसी टेढ़ी-टेढ़ी आँखों से तुम मेरी ओर क्यों ताक रहे हो ? (आसमान में घोर गड़गड़ाहट होती है।) ओह ! ओह ! यह कैसा भयंकर अट्टहास करते हो तुम ? बादलो ! तुम्हारी यह हँसी आज इतनी भीषण क्यों लगती है ?

बादल — आज तो यह भीषण ही रहेगी, बरगद !

बड़ — (अत्यन्त व्यथित होकर) अरे ओ प्यारे बादलो, तुम एकाएक इतने बदल क्यों गए ? पुराने बादलों के बदले रास्ता भूलकर कोई नये बादल तो नहीं आ गये ?

बादल — बादल तो हम वही हैं, बरगद ! मगर आज हम काल-पंछी की उड़न-खड़ाऊँ पहन कर आये हैं।

[आसमान में जोरों का धड़ाका होता है। कड़कड़ाहट के साथ बिजली चमकती है। धरती काँप उठती है।]

बिजली बड़दादा ! जीवन मेरी इस चमक के समान है।

बड़ ओह, यह तो क़हर-सा बरस रहा है! जागो पंछियो, जागो! (पंछी फड़फड़ा उठते हैं। सारा पेड़ कलरव से गूंज उठता है) उड़ जाओ, पंछियो! उड़ जाओ। मेरा काल निकट आया जान पड़ता है। उड़ो, उड़ो, प्यारे पंछियो, उड़ जाओ! (ऊपर से मूसलधार पानी बरसना शुरू होता है।) प्यारे बच्चो! जाओ, उड़ जाओ! देर न करो, नहीं तो मेरे साथ तुम्हारी भी बन आयेगी।

[ सृष्टि में ज़ोरों का एक धड़ाका होता है। अन्दर से झंझावात निकलता है। पर्वत काँप उठते हैं। पंछी आर्त्त स्वर से पुकार उठते हैं। ]

झंझावात (गर्जना करता हुआ) सृष्टि के समस्त तरुओ! अपने इस काल को वन्दन करो। (पेड़ थरथराने लगते हैं। झंझावात कुछ देर प्रतीक्षा करता हुआ मौन रहता है।)

तरुवृन्द! अपने इस काल को पहचानो! मुझे प्रणाम करो, मेरा जयगान करो! (कोई कुछ भी नहीं बोलता) अरे! मुझे प्रणाम करते हो या अभी जड़मूल से उखाड़कर तुम्हें ज़मीन पर सुला दूँ? बोलो, झुकते हो, या मैं झुका दूँ?

बड़ (सगर्व) अपनी राह चले जाओ, झंझावात! तरुगण प्रेम-समीर के सिवा और किसी को सिर नहीं झुकाते।

[ झंझावात प्रचण्ड रुद्र-रूप धारण करता है। बड़ को छोड़कर सब काँप उठते हैं। ]

चम्पा मैं तुम्हें प्रणाम करता हूँ, झंझावात! (हवा के झोंकों की दिशा में झुक जाता है।)

घास — मेरा भी वन्दन स्वीकार कीजिए, देव ! (आँधी की दिशा में हिलने लगती है।)

बड़ — (आंतरिक तिरस्कार के साथ) ओह !...

भिण्डा — मेरे भी कोटि-कोटि वन्दन स्वीकार कीजिए, वायुराज ! (झुक जाता है।) मैं तो तुम्हारी गऊ हूं। मुझे मत उखाड़ना प्रभो !

[ बड़ के अतिरिक्त सब झुक जाते हैं। ]

झंझावात — (भीषण गर्जना के साथ) अभिमानी बरगद ! गरूर छोड़ दे; नहीं,बातकी-बात में तेरा नामोनिशान मिट जायगा। मान जा, मुझे प्रणाम कर ले !

बड़ — वायुराज ! यह सिर उस प्रभु के अतिरिक्त न किसी के सम्मुख आज तक झुका है, और न कभी झुकेगा।

झंझावात — (क्रोधान्ध होकर) इतना ग़रूर ! तो ले, अभी मिलता है तुझे अपने इस ग़रूर का फल ! (प्रचण्ड हवा बहने लगती है और बड़ की डालियाँ एक-दूसरे से टकराती हैं।)

बड़ — (धीर-गंभीर भाव से) मेरे प्यारे पंछियो सुनो ! उड़ जाओ, चले जाओ ! मेरा काल आ गया है। (कुछ पंछी उड़ जाते हैं।) भिण्डा भाई ! तम घबराना मत, भला ! मेरी जड़ें बहुत मज़बूत हैं। जब तक मैं मौजूद हूं, अपनी घटा को ढाल बनाकर आँधी के सब झोंकों से मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा। ये तो पंछी थे, जो उड़ गये। मगर तुम निश्चिन्त रहो, मेरी विशाल घटा की छाया में।

भिण्डा — मरने चले हो, तब भी तुम्हारी बकवास नहीं छूटती

बड़दादा ! ( लाचारी जताते हुए ) अरे, मरते-मरते भी तुम मुझे बदनाम कर जाओगे क्या ? मैं कहता हूँ, यह झूठा अभिमान छोड़ो, और इस वक्त अपनी जान बचा लो। हम तो झंझाराज की कृपा से अब बच ही जायँगे। ( फिर झंझावात को प्रणाम करता है। )

[ आंधी का वेग बढ़ता है और बड़ की जड़ें हिल उठती हैं। ]

बड़ — ( घिघियाकर ) प्यारे पंछियो ! तुम सुनते क्यों नहीं ? जाओ, उड़ जाओ ! मेरी सुनो !

पंछी — बड़दादा ! यह तुम हमें क्या कह रहे हो ? यही सीखा है हमने तुमसे कि जिसके आसरे आज दिन तक जीये, संकट के समय उसी को छोड़कर चले जायँ ? दादा, तुम हमें इतना हीन समझते हो क्या ? हम कहते हैं, जो दशा तुम्हारी होगी, सो हमारी भी हो ले।

[ झंझावात का ज़ोर बढ़ता है; अरीता हुआ बड़ उछल कर गिरने लगता है। ]

बड़ — ( झुकते हुए ) प्रणाम, झरनी बहन ! और देवि प्रकृति तुम्हें भी शिरसा प्रणाम ! मैं चला, मुझे विदा करो !

[ हवा के एक नये झोंके के साथ वह ज़मीन पर गिर पड़ता है। सैकड़ों-हज़ारों पंछी, घोंसलों और बच्चों के साथ, अन्दर-ही-अन्दर कुचलकर मर जाते हैं। डालियां चूर-चूर हो जाती हैं। ]

झरनी — ओ मेरे बड़दादा, यह तुमने क्या किया ? यह तुम कहां चल दिये ? मेरे दादा, इस झरनी के सब अपराध क्षमा करो !

[ झरनी की आंखों से अविरल आंसू झरने लगते हैं। ]

बड़ — झरनी बहन ! ओह प्र...णा...म !

[ झंझावात अट्टहास करता हुआ चला जाता है। धीमे-धीमे तूफान शांत हो जाता है। इधर आकाश में उजेला होता है; उधर पूरब से मुर्गा गाता हुआ आता है। ]

मुर्गा — सूर्यदेव का बन्दी जन हूँ,
मैं प्रभात का हूँ आह्वान।
उषा-सारथी सहित दिवाकर
सप्त-अश्व-रथ पर चढ़ सत्वर
आता है, मैं उसके पथ पर
संचित कर सब जीवन का स्वर
बन प्रकाश का गायक,
गाता हूँ स्वागत का गान।
सूर्यदेव का बन्दीजन हूँ,
मैं प्रभात का हूं आह्वान !

[ बरगद को न पाकर एकाएक ठिठक जाता है। ]

मुर्गा — अरे, बड़दादा क्या हुए ? कहां चले गये ? ( इधर-उधर देखता है। बरगद को जमीन पर गिरा देखकर ) अरे रे ! अचानक यह क्या हो गया ?

झरनी — मुर्गा भैया, हो क्या गया, एक कहर बीत गया। लाखों के पालनहार राजा के मरने से पृथ्वी जैसे विधवा हो जाती है, वैसे ही बड़दादा के अभाव में वन-श्री आज विधवा हो गई है। मुर्गा भाई, बड़दादा की देह गिर चुकी है, किन्तु आत्मा तो अब भी अमर है—

प्राण अब तक उन्नत हैं। अरे, जिस झंझावात ने बड़-दादा के इस महान् जीवन का अन्त किया है, उसी झंझावात ने उनके असंख्य फलों को कोसों फैला दिया है। आये दिन उन फलों से बड़दादा जैसे असंख्य नये बड़ पैदा हो जायंगे।

मुर्गा — गज़ब हो गया, झरनी बहन! ( कुछ देर ठहर कर ) अब उन हजारों पंछियों को कौन आश्रय देगा? बड़-दादा क्या थे, प्रेम के अवतार थे, दया के सागर!

भिखडा — ( कठोर हँसी हँसता हुआ ) प्रेम के अवतार! बेवकूफ था, बेवकूफ! अरे तनिक ही झुक जाता तो जान से हाथ तो न धोता! लेकिन इतनी अक्ल हो तब न! ख़ैर जो होता है, अच्छे ही के लिए होता है। अब मेरा रास्ता साफ़ हो गया—मेरी प्रगति को रोकने वाला कोई न रहा।

[ सुनकर आसमान लाल हो जाता है। झरनी के मुंह पर व्रीड़ा की लाली छा जाती है। ]

मुर्गा — हाय! अब मैं बड़दादा को कैसे जगाऊं? अब तो मेरा संजीवन मंत्र भी उनके किसी काम का न रहा! मुझे अपना गीत ही बदल देना होगा।

[ विषाद-भरे स्वर में गाता हुआ जाने लगता है। ]

व्यर्थ हमारी यह पुकार है—
'जागें जग के निद्रित प्राण'!
नहीं पहुंचती पार मृत्यु के,
नभ-उर चीरे भले अजान।

सूर्यदेव का बन्दी जन हूँ,

मैं प्रभात का हूँ आह्वान !

अमर मृत्यु की नींद, जगाने वाला।

उसका कहां महान् ?

जिस तक सूर्य किरण न पहुंचती,

कहां क्षुद्र गायक की तान ?

सूर्यदेव का बन्दी जन हूँ,

मैं प्रभात का हूँ आह्वान ।

[ मुर्गा गाता हुआ चला जाता है। सृष्टि का क्रम पुनः आरम्भ हो जाता है।]